

Chapter चार

सती द्वारा शरीर-त्याग

मैत्रेय उवाच

एतावदुक्त्वा विरराम शङ्करः

पत्न्यङ्गनाशं ह्युभयत्र चिन्तयन् ।

सुहृद्दृक्षुः परिशङ्किता भवा-

निष्क्रामती निर्विशती द्विधास सा ॥ १ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; एतावत्—इतना; उक्त्वा—कह कर; विरराम—शान्त हो गये; शङ्करः—भगवान् शिव; पत्नी-अङ्ग-नाशम्—अपनी पत्नी के शरीर का विनाश; हि—चूँकि; उभयत्र—दोनों प्रकार से; चिन्तयन्—सोचते हुए; सुहृत्-दृक्षुः—अपने सम्बन्धियों को देखने के लिए इच्छुक; परिशङ्किता—भयभीत; भवात्—शिव से; निष्क्रामती—बाहर आती; निर्विशती—भीतर जाती; द्विधा—दुचिन्ती; आस—थी; सा—वह (सती)।

मैत्रेय मुनि ने कहा : सती को असमंजस में पाकर शिवजी यह कह कर शान्त हो गये। सती अपने पिता के घर में अपने सम्बन्धियों को देखने के लिए अत्यधिक इच्छुक थी, किन्तु साथ ही वह शिवजी की चेतावनी से भयभीत थी। मन अस्थिर होने से वह हिंडोले की भाँति कक्ष से बाहर और भीतर आ-जा रही थी।

तात्पर्य : सती का मन दुविधा में था कि वह पिता के घर जाए या शिवजी के आदेश का पालन करे। यह द्वन्द्व इतना प्रबल था कि वह कभी कमरे के बाहर आती तो कभी भीतर जाती; उसकी गति घड़ी के पेंडुलम जैसी हो रही थी।

सुहृद्दृक्षाप्रतिघातदुर्मनाः

स्नेहाद्द्रुदत्यश्रुकलातिविह्वला ।

भवं भवान्यप्रतिपूरुषं रुषा

प्रधक्ष्यतीवैक्षत जातवेपथुः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

सुहृत्-दृक्षा—अपने सम्बन्धियों को देखने की इच्छा की; प्रतिघात—बाधा; दुर्मनाः—अनमनी होकर; स्नेहात्—स्नेहवश; रुदती—रोती हुई; अश्रु-कला—आँसुओं की बूँदों से; अतिविह्वला—अत्यधिक व्याकुल; भवम्—शिव; भवानी—सती; अप्रति-पूरुषम्—अद्वितीय; रुषा—क्रोध से; प्रधक्ष्यती—भस्म करने; इव—मानो; ऐक्षत—देखा; जात-वेपथुः—हिलती हुई, थर-थर काँपती हुई।

इस तरह अपने पिता के घर जाकर अपने सम्बन्धियों को देखने से मना किये जाने पर सती अत्यन्त दुखी हुई। उन सबके स्नेह के कारण उसकी आँखों से अश्रु गिरने लगे। थरथराती एवं

अत्यधिक व्याकुल होकर उसने अपने अद्वितीय पति भगवान् शंकर को इस प्रकार से देखा मानो वह अपनी दृष्टि से उन्हें भस्म करने जा रही हो।

तात्पर्य : इस श्लोक में प्रयुक्त *अप्रतिपूरुषम्* शब्द का अर्थ है, “जिसकी बराबरी का कोई अन्य न हो।” इस जगत में शिवजी की समता का कोई भी व्यक्ति नहीं है। उनकी पत्नी सती को पता था कि उसका पति समदर्शी है, तो फिर इस बार वे अपनी पत्नी पर इतने निष्ठुर क्यों थे कि उसे अपने मायके नहीं जाने दे रहे थे? इससे उसे असह्य पीड़ा हो रही थी और वह अपने पति को इस प्रकार देख रही थी मानो उसे अपनी दृष्टि से भस्मसात् कर देगी। दूसरे शब्दों में, चूँकि शिव आत्मा हैं (शिव का अर्थ आत्मा भी है) इसलिए सती आत्महत्या करने को उद्यत थी। *अप्रतिपूरुष* का दूसरा अर्थ है, “वह महापुरुष जिसका कोई प्रतिद्वन्दी नहीं है।” चूँकि शिवजी को आज्ञा देने के लिए राजी नहीं किया जा सका, अतः सती ने स्त्री के उस अन्तिम अस्त्र, रोदन, का सहारा लिया, जिससे पति बाध्य होकर अपनी पत्नी के प्रस्ताव को मान लेता है।

ततो विनिःश्वस्य सती विहाय तं
शोकेन रोषेण च दूयता हृदा ।
पित्रोरगात्स्त्रैणविमूढधीर्गृहान्
प्रेम्णात्मनो योऽर्धमदात्सतां प्रियः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; विनिःश्वस्य—जोर-जोर से साँस लेते हुए; सती—सती; विहाय—त्याग कर; तम्—उसको (शिव को); शोकेन—शोक से; रोषेण—क्रोध से; च—तथा; दूयता—विह्वल; हृदा—हृदय से; पित्रोः—अपने पिता के; अगात्—चली गई; स्त्रैण—अपनी स्त्री प्रकृति के कारण; विमूढ—प्रवंचित; धीः—बुद्धि; गृहान्—घर को; प्रेम्णा—प्रेमवश; आत्मनः—अपने शरीर का; यः—जो; अर्धम्—आधा; अदात्—दे दिया; सताम्—साधु पुरुषों को; प्रियः—प्रिय।

तत्पश्चात् सती अपने पति शिवजी को, जिन्होंने प्रेमवश उसे अपना अर्धांग प्रदान किया था, छोड़कर क्रोध तथा शोक के कारण लम्बी-लम्बी साँसों भरती हुई अपने पिता के घर को चली गई। उससे यह अल्प बुद्धिमत्ता-पूर्ण कार्य उसका अबला नारी होने के फलस्वरूप हुआ।

तात्पर्य : वैदिक विचारधारा के अनुसार पति अपने शरीर का आधा भाग पत्नी को और पत्नी आधा भाग पति को देती है। अर्थात् पत्नी के बिना पति और पति के बिना पत्नी अपूर्ण होते हैं। शिव तथा सती के मध्य वैदिक वैवाहिक सम्बन्ध था, किन्तु कभी-कभी स्त्री नारी-स्वभाव-जनित

दुर्बलतावश अपने मायके के पारिवारिक सदस्यों के प्रति अधिक आकृष्ट रहती है और सती के साथ भी यही हुआ। इस श्लोक में यह विशेष रूप से बताया गया है कि अपनी सती शिव जैसे महान् पति को छोड़ना चाह रही थी। तात्पर्य यह है कि पति तथा पत्नी के सम्बन्ध में भी स्त्री की दुर्बलता बनी रहती है। सामान्य रूप से पति तथा पत्नी के बीच होने वाला तलाक स्त्री के आचरण के कारण होता है; इसका कारण स्त्री की दुर्बलता है। सर्वश्रेष्ठ रास्ता यही है कि पत्नी पति के आदेशों का पालन करे। इससे पारिवारिक जीवन परम शान्तिपूर्ण रहता है। कभी-कभी पति-पत्नी के मध्य कुछ गलतफहमी होती है जैसी कि शिव तथा सती जैसे उच्च पारिवारिक सम्बन्ध में हुई। किन्तु ऐसी गलतफहमी के कारण स्त्री को पति का संरक्षण नहीं त्यागना चाहिए। यदि वह ऐसा करती है, तो इसे स्त्री-दुर्बलता समझना चाहिए।

तामन्वगच्छन्दुतविक्रमां सती-

मेकां त्रिनेत्रानुचराः सहस्रशः ।

सपार्षदयक्षा मणिमन्मदादयः

पुरोवृषेन्द्रास्तरसा गतव्यथाः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

ताम्—उसको (सती को); अन्वगच्छन्—पीछा करते; द्रुत-विक्रमाम्—तेजी से छोड़ते; सतीम्—सती को; एकाम्—अकेले; त्रि-नेत्र—शिव (तीन नेत्रों वाले) के; अनुचराः—अनुयायी; सहस्रशः—हजारों; स-पार्षद-यक्षाः—उनके पार्षदों तथा यक्षों के सहित; मणिमत्-मद-आदयः—मणिमान्, मद आदि.; पुरः-वृष-इन्द्राः—नन्दी बैल को आगे करके; तरसा—तेजी से; गत-व्यथाः—निर्भीक।

जब उन्होंने सती को तेजी से अकेले जाते देखा तो शिवजी के हजारों अनुत्तर, जिनमें मणिमान तथा मद प्रमुख थे, नन्दी बैल को आगे करके तथा यक्षों को साथ लेकर जल्दी से सती के पीछे-पीछे हो लिए।

तात्पर्य : सती बड़ी तेजी से जा रही थीं कि कहीं उनके पति रोक न लें, किन्तु तुरन्त ही उनके साथ शिवजी के हजारों अनुत्तर लग गये, जिनमें यक्ष, मणिमान तथा मद मुख्य थे। यहाँ पर प्रयुक्त शब्द गतव्यथा का अर्थ है, “बिना किसी भय के।” सती को इसकी परवाह न थी कि वह अकेले जा रही है, अतः वह निडर थीं। अनुचराः शब्द भी महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इससे सूचित होता है कि शिवजी के अनुत्तर शिवजी के लिए सब कुछ बलिदान करने के लिए उद्यत रहते थे। वे सभी शिवजी की इच्छा

को जान गये कि वे सती को अकेले नहीं जाने देना चाहते थे। अनुचरः का अर्थ है, “वे जो अपने स्वामी के प्रयोजन को तुरन्त समझ लें।”

तां सारिकाकन्दुकदर्पणाम्बुज-
श्वेतातपत्रव्यजनस्त्रगादिभिः ।
गीतायनैर्दुन्दुभिःशङ्खवेणुभि-
वृषेन्द्रमारोप्य विटङ्किता ययुः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

ताम्—उसकी (सती को); सारिका—पालतू पक्षी मैना; कन्दुक—गेंद; दर्पण—शीशा; अम्बुज—कमल का फूल; श्वेत-
आतपत्र—सफेद छाता; व्यजन—पंखा; स्त्रक्—माला; आदिभिः—इत्यादि; गीत-अयनैः—संगीत के साथ; दुन्दुभिः—डुग्गी,
ढोल; शङ्ख—शंख; वेणुभिः—मुरली से; वृष-इन्द्रम्—बैल पर; आरोप्य—चढ़ाकर; विटङ्किताः—आभूषित; ययुः—वे गये।

शिव के अनुचरों ने सती को बैल पर चढ़ा लिया और उन्हें उनकी पालतू चिड़िया (मैना) दे दी। उन्होंने कमल का फूल, एक दर्पण तथा उनके आमोद-प्रमोद की सारी सामग्री ले ली और उनके ऊपर एक विशाल छत्र तान दिया। उनके पीछे ढोल, शंख तथा बिगुल बजाता हुआ दल राजसी शोभा यात्रा के समान भव्य लग रहा था।

आब्रह्मघोषोजितयज्ञवैशसं
विप्रर्षिजुष्टं विबुधैश्च सर्वशः ।
मृदार्वयःकाञ्चनदर्भचर्मभि-
र्निसृष्टभाण्डं यजनं समाविशत् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

आ—चारों ओर से; ब्रह्म-घोष—वैदिक मंत्रों की ध्वनियों से; ऊर्जित—सजाया; यज्ञ—यज्ञ; वैशसम्—पशु बलि; विप्रर्षि-
जुष्टम्—जुटे हुए ऋषि; विबुधैः—देवताओं से; च—तथा; सर्वशः—सभी दिशाओं में; मृत्—मिट्टी के; दारु—काठ के;
अयः—लोह; काञ्चन—सोने के; दर्भ—कुश; चर्मभिः—खालों से; निसृष्ट—बने; भाण्डम्—बलि पशु तथा भांडे (बर्तन);
यजनम्—यज्ञ; समाविशत्—प्रवेश किया।

तब सती अपने पिता के घर पहुँची जहाँ यज्ञ हो रहा था और उसने यज्ञस्थल में प्रवेश किया जहाँ वैदिक स्तोत्रों का उच्चारण हो रहा था। वहाँ सभी ऋषि, ब्राह्मण तथा देवता एकत्र थे। वहाँ पर अनेक बलि-पशु थे और साथ ही मिट्टी, पत्थर, सोने, कुश तथा चर्म के बने पात्र थे जिनकी यज्ञ में आवश्यकता पड़ती है।

तात्पर्य : जब विद्वान् साधु तथा ब्राह्मण वैदिक मंत्रों के उच्चारण हेतु एकत्र होते हैं, तो उनमें से

कुछ शास्त्रार्थ में लगे रहते हैं। इस प्रकार कुछ साधु तथा ब्राह्मण शास्त्रार्थ कर रहे थे और कुछ मंत्रोच्चारण कर रहे थे। इस प्रकार सारा वातावरण दिव्य ध्वनियों से व्याप्त था। इस दिव्य ध्वनि को हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे, हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे। मंत्र में सरल रूप दे दिया गया है। इस युग में लोग अत्यन्त आलसी, मन्द तथा अभागे हैं, अतः वे वैदिक ज्ञान में उच्च शिक्षा प्राप्त नहीं कर पाते। इसीलिए भगवान् चैतन्य ने हरे कृष्ण ध्वनि की संस्तुति की है। *श्रीमद्भागवत* में (११.५.३२) भी संस्तुति है यज्ञैः संकीर्तनप्रार्थैर्यजन्ति हि सुमेधसः। इस समय यज्ञ की आवश्यक वस्तुओं को एकत्र कर पाना कठिन है, क्योंकि लोग निर्धन हैं और उन्हें वैदिक मंत्रों का ज्ञान नहीं है। अतः इस युग में यह सलाह दी जाती है कि लोग एकत्र होकर श्रीभगवान् को, जो अपने पार्षदों के साथ रहते हैं, प्रसन्न करने के लिए हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन करें। अप्रत्यक्ष रूप से यह भगवान् चैतन्य के लिए है, जो नित्यानन्द, अद्वैत आदि अपने पार्षदों के साथ रहते हैं। इस युग में यज्ञ सम्पन्न करने की यही विधि है।

इस श्लोक की अन्य महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उस समय बलि के लिए पशु होते थे। किन्तु बलि के पशु का यह अर्थ नहीं है कि वे वध किये जाने के लिए होते थे। बड़े-बड़े ऋषि तथा ज्ञानी पुरुष यज्ञ किया करते थे और उनकी सफलता (अनुभूति) का परीक्षण पशु बलि द्वारा किया जाता था जिस प्रकार कि आधुनिक विज्ञान में किसी विशेष ओषधि के प्रभाव की परीक्षा पशुओं पर की जाती है। वे ब्राह्मण, जिन पर यज्ञ का भार रहता था, अत्यन्त सिद्ध पुरुष होते थे और वे अपनी सिद्धि की परीक्षा करने के लिए बड़े पशु की बलि अग्नि में देते और उसे पुनः जीवन प्रदान करते थे। वैदिक मंत्र की यही परीक्षा थी। वहाँ पर एकत्र पशु मार कर खाने के लिए नहीं होते थे। यज्ञ का वास्तविक प्रयोजन कसाईघरों का स्थान ग्रहण करना नहीं, अपितु पशु को नव जीवन प्रदान करके वैदिक मंत्र की परीक्षा करना था। पशु वैदिक मंत्रों की शक्ति के परीक्षण के लिए प्रयुक्त होते थे, मांस के लिए नहीं।

तामागतां तत्र न कश्चनाद्रियद्

विमानितां यज्ञकृतो भयाज्जनः ।

ऋते स्वसृवै जननीं च सादराः

प्रेमाश्रुकण्ठ्यः परिष्वजुर्मुदा ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

ताम्—उसके (सती के); आगताम्—आगमन से; तत्र—वहाँ; न—नहीं; कश्चन—किसी ने; आद्रियत्—स्वागत किया; विमानिताम्—आदर न पाकर; यज्ञ-कृतः—यज्ञकर्ता (दक्ष); भयात्—भय से; जनः—व्यक्ति; ऋते—के अतिरिक्त; स्वसुः—उसकी बहनें; वै—निस्सन्देह; जननीम्—माता; च—तथा; स-आदराः—आदर सहित; प्रेम-अश्रु-कण्ठ्यः—स्नेह-अश्रुओं से भरे हुए कण्ठ; परिष्वजुः—आलिंगन किया; मुदा—प्रसन्न मुख से।

जब सती अनुचरों सहित यज्ञस्थल में पहुँचीं, तो किसी ने उनका स्वागत नहीं किया, क्योंकि वहाँ पर एकत्रित सभी लोग दक्ष से भयभीत थे। उनकी माता तथा बहनों ने अश्रुपूरित नेत्रों तथा प्रसन्न मुखों से उसका स्वागत किया और उससे बड़े ही प्रेम से बातें कीं।

तात्पर्य : सती की माता तथा बहनों ने अन्यो का अनुसरण नहीं किया। सहज प्रेम के कारण वे तुरन्त प्रेमाश्रुपूरित नेत्रों से गले लग गईं। इससे प्रकट होता है कि स्त्रियाँ कितनी कोमलहृदया होती हैं। उनके सहज स्नेह को कृत्रिम साधनों से नहीं रोका जा सकता। यद्यपि वहाँ पर एकत्र पुरुष अत्यन्त विद्वान् ब्राह्मण तथा देवता थे, किन्तु वे अपने से श्रेष्ठ दक्ष से भयभीत थे और वे जानते थे कि यदि वे सती का स्वागत करेंगे तो दक्ष रुष्ट होगा, अतः मन में चाहते हुए भी वे वैसा नहीं कर पाये। स्त्रियाँ स्वभाव से कोमल-हृदया होती हैं, किन्तु पुरुष कभी-कभी अत्यन्त कठोर हृदय होते हैं।

सौदर्यसम्प्रश्नसमर्थवार्तया

मात्रा च मातृष्वसृभिश्च सादरम् ।

दत्तां सपर्यां वरमासनं च सा

नादत्त पित्राप्रतिनन्दिता सती ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

सौदर्य—अपनी बहनों का; सम्प्रश्न—समादर; समर्थ—उचित; वार्तया—कुशल समाचार; मात्रा—अपनी माता द्वारा; च—तथा; मातृ-स्वसृभिः—मौसियों द्वारा; च—तथा; स-आदरम्—आदरपूर्वक; दत्ताम्—दी गई; सपर्याम्—पूजा; वरम्—भेंटें; आसनम्—आसन; च—तथा; सा—उस; न आदत्त—ग्रहण नहीं किया; पित्रा—अपने पिता द्वारा; अप्रतिनन्दिता—समादरित न होने से; सती—सती ने।

यद्यपि उनकी बहनों तथा माता ने उनका स्वागत-सत्कार किया, किन्तु उन्होंने उनके स्वागत-वचनों का कोई उत्तर नहीं दिया। यद्यपि उन्हें आसन तथा उपहार दिये गये, किन्तु उन्होंने कुछ भी स्वीकार नहीं किया, क्योंकि उनके पिता न तो उनसे बोले और न उनका कुशल-क्षेम पूछ कर उनका स्वत्कार किया।

तात्पर्य : सती ने अपनी बहनों तथा माता द्वारा दी गई भेंटें स्वीकार नहीं कीं, क्योंकि वह अपने

पिता की चुप्पी से तनिक भी संतुष्ट न थी। सती दक्ष की सबसे छोटी कन्या थी और उसे पता था कि वह उसकी अत्यधिक चहेती पुत्री थी। किन्तु अब, शिव की संगति होने से पिता ने अपनी पुत्री के सारे प्यार को भुला दिया था जिससे उसे अत्यधिक ठेस पहुँची। भौतिक देहात्म-बुद्धि इतनी दूषित होती है कि थोड़े से उकसावे से भी हमारे प्रेम तथा स्नेह के सारे बन्धन टूट जाते हैं। शारीरिक सम्बन्ध इतने क्षणिक हैं कि भले ही कोई किसी को कितना ही स्नेह क्यों न करता रहा हो, थोड़ी सी नाराजगी में सारी घनिष्ठता छिन्न हो जाती है।

अरुद्रभागं तमवेक्ष्य चाध्वरं

पित्रा च देवे कृतहेलनं विभौ ।

अनादृता यज्ञसदस्यधीश्वरी

चुकोप लोकानिव धक्ष्यती रुषा ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

अरुद्र-भागम्—शिव का यज्ञभाग न पाकर; तम्—उसे; अवेक्ष्य—देखकर; च—तथा; अध्वरम्—यज्ञस्थल; पित्रा—अपने पिता द्वारा; च—तथा; देवे—शिव की; कृत-हेलनम्—अवहेलना करके; विभौ—स्वामी के; अनादृता—अनादर की गई; यज्ञ-सदसि—यज्ञ की सभा में; अधीश्वरी—सती; चुकोप—अत्यधिक क्रुद्ध हुई; लोकान्—चौदहों लोक; इव—मानो; धक्ष्यती—जलाती हुई; रुषा—क्रोध से।

यज्ञस्थल में जाकर सती ने देखा कि उनके पति शिवजी का कोई यज्ञ भाग नहीं रखे गये हैं। तब उन्हें यह आभास हुआ कि उनके पिता ने शिव को आमंत्रित नहीं किया; उल्टे जब दक्ष ने शिव की पूज्य पत्नी को देखा तो उसने उसका भी आदर नहीं किया। अतः इससे वे अत्यन्त क्रुद्ध हुईं; यहां तक कि वह और अपने पिता को इस प्रकार देखने लगीं मानो उसे अपने नेत्रों से भस्म कर देंगी।

तात्पर्य : वैदिक मंत्र *स्वाहा* का उच्चारण करते हुए जब अग्नि में आहुतियाँ डाली जाती हैं, तो समस्त देवताओं, मुनियों तथा पितरों का, जिनमें ब्रह्मा, शिव तथा विष्णु सम्मिलित हैं, सम्मान किया जाता है। परम्परा चली आई है कि सम्मान पाने वालों में शिव एक माने जाते हैं। किन्तु सती ने यज्ञस्थल में उपस्थित होकर देखा कि ब्राह्मण लोग *नमः शिवाय स्वाहा* मंत्र का उच्चारण करके शिव को आहुति नहीं दे रहे थे। वे अपने लिए दुखी न थीं, क्योंकि वे अपने पिता के घर बिना बुलाये आने को तैयार थीं, किन्तु वे यह देखना चाहती थीं कि उनके पति का आदर किया जा रहा है या नहीं। अपने

सम्बन्धियों, अपनी बहनों तथा माता से भेंट करना उतना महत्त्वपूर्ण न था, क्योंकि जब उनकी माता तथा बहनों ने स्वागत-सत्कार किया, तो सती ने उसकी परवाह नहीं की, क्योंकि उन्हें लग रहा था कि यज्ञ में उनके पति का अपमान हो रहा है। जब उन्होंने उस अपमान को स्वयं देख लिया तो वे अत्यधिक क्रुद्ध हुईं और अपने पिता को इतने रोष से देखा मानो दक्ष को अपनी दृष्टि से भस्म कर देंगी।

जगर्ह सामर्षविपन्नया गिरा

शिवद्विषं धूमपथश्रमस्मयम् ।

स्वतेजसा भूतगणान्समुत्थितान्

निगृह्य देवी जगतोऽभिशृण्वतः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

जगर्ह—निन्दा करने लगी; सा—वह; अमर्ष-विपन्नया—क्रोध के कारण अस्फुट; गिरा—वाणी से; शिव-द्विषम्—शिव का शत्रु; धूम-पथ—यज्ञों में; श्रम—कष्टों से; स्मयम्—अत्यन्त गर्वित; स्व-तेजसा—अपनी आज्ञा से; भूत-गणान्—भूतों के; समुत्थितान्—सन्नद्ध, तत्पर (दक्ष को मारने के लिए); निगृह्य—रोका; देवी—सती ने; जगतः—सबों की उपस्थिति में; अभिशृण्वतः—सुना जाकर।

शिव के अनुचर, भूतगण दक्ष को क्षति पहुँचाने अथवा मारने के लिए तत्पर थे, किन्तु सती ने आदेश देकर उन्हें रोका। वे अत्यन्त क्रुद्ध और दुखी थीं और उसी भाव में वे यज्ञ के सकामकर्मों की विधि की तथा उन व्यक्तियों की, जो इस प्रकार के अनावश्यक एवं कष्टकर यज्ञों के लिए गर्व करते हैं, भर्त्सना करने लगीं। उन्होंने सबों के समक्ष अपने पिता के विरुद्ध बोलते हुए उसकी विशेष रूप से निन्दा की।

तात्पर्य : यज्ञ करने का विधान विशेष रूप से विष्णु को प्रसन्न करने के प्रयोजनार्थ होता है, जो यज्ञेश्वर कहलाते हैं क्योंकि समस्त यज्ञों के फल के भोक्ता वे ही हैं। इस तथ्य की पुष्टि *भगवद्गीता* (५.२९) में भी हुई है। भगवान् कहते हैं—*भोक्तारं यज्ञतपसाम्*। वे ही समस्त यज्ञों के वास्तविक भोक्ता हैं। अल्पज्ञानी लोग इस तथ्य को न जानने के कारण किसी भौतिक लाभ के हेतु यज्ञ करते हैं। इन्द्रियतृप्ति हेतु व्यक्तिगत लाभ उठाने के लिए ही दक्ष-जैसे व्यक्ति तथा उनके अनुयायी यज्ञ करते हैं। ऐसे यज्ञों को बिना किसी फल के श्रम करना कहा गया है। *श्रीमद्भागवत* से इसकी पुष्टि होती है। कोई भले ही यज्ञ तथा अन्य सकाम कर्मों को सम्पन्न करने के वैदिक आदेश का पालन करे, किन्तु

यदि इन कार्यों से विष्णु के प्रति आकर्षण विकसित नहीं होता तो सारा श्रम निरर्थक है। जिसने विष्णु के लिए प्रेम उत्पन्न कर लिया है, उसे चाहिए कि विष्णु-भक्तों के लिए भी प्रेम तथा आदर विकसित करे। शिव को वैष्णवों में अग्रणी माना जाता है। *वैष्णवानाम् यथा शम्भुः*। अतः जब सती ने देखा कि उनका पिता महान् यज्ञ कर रहा है, किन्तु परम भक्त शिव के प्रति उसके मन में तनिक भी आदर नहीं है, तो वे अत्यन्त क्रोधित हुईं। यह ठीक ही है, यदि विष्णु या वैष्णव का अपमान हो तो मनुष्य को क्रुद्ध होना चाहिए। अहिंसा, विनयशीलता तथा नम्रता का पाठ पढ़ाने वाले भगवान् चैतन्य महाप्रभु ने जब सुना कि जगाई तथा माधाई ने नित्यानन्द का अपमान किया है, तो वे परम क्रुद्ध हुए और उन्हें जान से मार डालना चाहा। जब विष्णु या वैष्णव का अपमान हो तो मनुष्य को क्रुद्ध होना चाहिए। नरोत्तमदास ठाकुर ने कहा—*क्रोध भक्त-द्वेषि जने*। हममें क्रोध रहता है और यह क्रोध महान् गुण बन सकता है, यदि उसका उपयोग उस व्यक्ति पर किया जाय, जो भगवान् या उनके भक्तों का द्वेषी है। यदि कोई विष्णु या वैष्णव पर आक्रमण कर रहा हो तो इसे सहन नहीं करना चाहिए। सती द्वारा अपने पिता पर प्रदर्शित क्रोध आपत्तिजनक नहीं था, क्योंकि यद्यपि वह उनका पिता था, किन्तु वह सर्वश्रेष्ठ वैष्णव का अपमान कर रहा था। अतः सती का अपने पिता पर किया गया क्रोध श्लाघनीय था।

देव्युवाच

न यस्य लोकेऽस्त्यतिशायनः प्रिय-
स्तथाप्रियो देहभृतां प्रियात्मनः ।
तस्मिन्समस्तात्मनि मुक्तवैरके
ऋते भवन्तं कतमः प्रतीपयेत् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

देवी उवाच—देवी (सती) ने कहा; न—नहीं; यस्य—जिसका; लोके—इस जगत में; अस्ति—है; अतिशायनः—प्रतिद्वन्द्वी न होना; प्रियः—प्रिय; तथा—उसी प्रकार; अप्रियः—शत्रु; देह-भृताम्—देहधारी; प्रिय-आत्मनः—अत्यन्त प्रिय; तस्मिन्—शिव के प्रति; समस्त-आत्मनि—संसार भर के प्राणी; मुक्त-वैरके—जो समस्त शत्रुता से मुक्त है, शत्रुविहीन; ऋते—अतिरिक्त; भवन्तम्—आपके; कतमः—कौन; प्रतीपयेत्—ईर्ष्यालु होगा।

देवी सती ने कहा : भगवान् शिव तो समस्त जीवात्माओं के लिए अत्यन्त प्रिय हैं। उनका कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं है। न तो कोई उनका अत्यन्त प्रिय है और न कोई उनका शत्रु है। आपके सिवा और ऐसा कौन है, जो ऐसे विश्वात्मा से द्वेष करेगा, जो समस्त वैर से रहित हैं ?

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (९.२९) में भगवान् कहते हैं—*समोऽहं सर्वभूतेषु*—मैं समस्त प्राणियों के

लिए एकसमान हूँ। इसी प्रकार शिवजी भगवान् के गुणात्मक अवतार हैं, अतः उनमें परमेश्वर के ही समान गुण पाये जाते हैं। अतः वे समदर्शी हैं, न तो कोई उनका मित्र है, और न कोई शत्रु, किन्तु जो स्वभाव से द्वेषपूर्ण होगा वह शिव का शत्रु बन सकता है। इसीलिए सती ने अपने पिता को दोषी ठहराया, “आपके अतिरिक्त भला ऐसा कौन है, जो शिव से ईर्ष्या करेगा या उनका शत्रु बनेगा?” अन्य साधु तथा विद्वान् ब्राह्मण वहाँ उपस्थित थे, किन्तु वे शिव से ईर्ष्या नहीं कर रहे थे, यद्यपि वे सभी दक्ष के आश्रित थे। अतः दक्ष के अतिरिक्त भला अन्य कोई शिव से क्यों द्वेष करने लगा! यही सती का दोषारोपण था।

दोषान्परेषां हि गुणेषु साधवो

गृह्णन्ति केचिन्न भवादृशो द्विज ।

गुणांश्च फल्गून्बहुलीकरिष्णावो

महत्तमास्तेष्वविदद्भवानघम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

दोषान्—दोष; परेषाम्—अन्यों के; हि—क्योंकि; गुणेषु—गुणों में; साधवः—साधुजन; गृह्णन्ति—पाते हैं; केचित्—कुछ; न—नहीं; भवादृशः—आपके समान; द्विज—हे द्विज; गुणान्—गुण; च—तथा; फल्गून्—छोटा; बहुली—करिष्णावः—अत्यधिक बढ़ा-चढ़ा देता है; महत्-तमाः—महापुरुष; तेषु—उनमें से; अविदत्—ढूँढते हैं; भवान्—आप; अघम्—दोष, त्रुटि।

हे द्विज दक्ष, आप जैसा व्यक्ति ही अन्यों के गुणों में दोष ढूँढ सकता है। किन्तु शिव अन्यों के गुणों में कोई दोष नहीं निकालते, विपरीत इसके यदि किसी में थोड़ा भी गुण होता है, तो वे उसे और भी अधिक बढ़ा देते हैं। दुर्भाग्यवश आपने ऐसे महापुरुष पर दोषारोपण किया है।

तात्पर्य : यहाँ पर दक्ष को उसकी पुत्री सती ने द्विज कह कर सम्बोधित किया है। द्विज मनुष्यों की सर्वश्रेष्ठ जातियों—ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य का सूचक है। दूसरे शब्दों में, द्विज सामान्य व्यक्ति न होकर ऐसा व्यक्ति होता है, जिसने गुरु से वैदिक साहित्य का अध्ययन किया है और जिसे अच्छे तथा बुरे का विवेक है। अतः यह आशा की जाती है कि वह तर्कशास्त्र तथा दर्शन को समझता है। दक्षकन्या सती ने दक्ष के समक्ष प्रबल तर्क प्रस्तुत किया। कुछ ऐसे महापुरुष हैं, जो अन्यों के गुणों को ही ग्रहण करते हैं। जिस प्रकार मधुमक्खी को पुष्पों के मधु से वास्ता रहता है, उनके काँटों तथा रंगों से नहीं, उसी प्रकार अत्यधिक योग्य व्यक्ति, जो विरले ही होते हैं, अन्यों के गुणों को ही ग्रहण करते हैं, उनके दोषों पर विचार नहीं करते, किन्तु सामान्य मनुष्य गुण तथा दोषों का निर्णय कर सकता है।

असाधारण महापुरुषों में भी श्रेणियाँ होती हैं और सर्वश्रेष्ठ मनुष्य तो वह है, जो किसी की नगण्य विशेषता को मानकर उस गुण को प्रवर्धित कर देता है। भगवान् शिव आशुतोष भी कहलाते हैं, क्योंकि वे तुरन्त प्रसन्न हो जाते हैं और किसी को भी बड़े से बड़ा वरदान दे देते हैं। उदाहरणार्थ, एक बार एक भक्त ने शिवजी से यह वर माँगा कि वह जिस किसी के सिर का स्पर्श करे, उस व्यक्ति का सिर धड़ से अलग हो जाये। शिवजी ने हामी भर दी। यद्यपि भक्त द्वारा माँगा गया वर प्रशंसनीय नहीं था, क्योंकि वह अपने शत्रु को मारना चाहता था, किन्तु भगवान् शिव ने भक्त की पूजा तथा अर्चना को ही उसका गुण समझ कर उसे वर दे दिया। इस प्रकार शिव ने उसके दुर्गुण को गुण मान लिया। किन्तु सती ने अपने पिता को दोषी ठहराते हुए कहा, “आप बिल्कुल इसके विपरीत हैं। यद्यपि शिव में अनेक गुण हैं और उनमें एक भी दोष नहीं है, किन्तु आपने उन्हें निकृष्ट मानकर उनके दोषों को ढूँढ निकाला है। उनके गुणों को दोष मानने के कारण आप महान् आत्मा न बन कर अत्यन्त पतित बन गये हैं। मनुष्य तभी महान् बनता है जब वह दूसरे के गुणों को स्वीकार करता है, किन्तु आपने वृथा ही अन्यो के गुणों को बुरा समझ कर अपने को सर्वाधिक पतित बना लिया है।”

नाश्चर्यमेतद्यदसत्सु सर्वदा

महद्विनिन्दा कुणपात्मवादिषु ।

सेर्ष्य महापुरुषपादपांसुभि-

निरस्ततेजःसु तदेव शोभनम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; आश्चर्यम्—विस्मयपूर्ण; एतत्—यह; यत्—जो; असत्सु—बुराई; सर्वदा—सदैव; महत्-विनिन्दा—महात्माओं की निन्दा; कुणप-आत्म-वादिषु—शिव को ही जिन्होंने आत्मरूप मान रखा है उनमें; स-ईर्ष्यम्—ईर्ष्या; महा-पुरुष—महापुरुषों की; पाद-पांसुभिः—चरण-रज से; निरस्त-तेजःसु—घटा हुआ तेज; तत्—वह; एव—निश्चय ही; शोभनम्—अति उत्तम।

जिन लोगों ने इस नश्वर भौतिक शरीर को ही आत्मरूप मान रखा है, उनके लिए महापुरुषों की निन्दा करना कोई आश्चर्य की बात नहीं। भौतिकतावादी पुरुषों के लिए ऐसी ईर्ष्या ठीक ही है, क्योंकि इसी प्रकार से उनका पतन होता है। वे महापुरुषों की चरण-रज से लघुता प्राप्त करते हैं।

तात्पर्य : ग्रहणकर्ता की क्षमता पर प्रत्येक वस्तु निर्भर करती है। उदाहरणार्थ, झुलसती धूप में अनेक वनस्पतियाँ तथा पुष्प सूख जाते हैं, तो कई एक लहलहाते हैं। अतः उन्नति और अवनति का

कारण ग्रहणकर्ता ही होता है। इसी प्रकार *महीयसां पादरजोऽभिषेकम्*—महापुरुषों के चरणकमलों की रज ग्रहणकर्ता का कल्याण करनेवाली है, किन्तु वही धूल हानि भी पहुँचा सकती है। जो किसी महापुरुष के चरणकमल के प्रति अपराध करते हैं, वे सूख जाते हैं, उनके दिव्य गुण घट जाते हैं। महापुरुष अपराधों को क्षमा कर सकते हैं, किन्तु कृष्ण उस महापुरुष के चरणकमल की धूल के प्रति किये अपराध को क्षमा नहीं करते। जिस प्रकार कोई अपने सिर पर झुलसती धूप को भले सहन कर ले, किन्तु पाँवों से उसे सहन नहीं कर पाता। अपराधी लगातार नीचे गिरता जाता है, अतः वह महात्मा के चरणों के प्रति अपराध करता जाता है। सामान्य रूप से अपराध वे करते हैं, जो अस्थिर देह को स्व मान बैठते हैं। राजा दक्ष देह को आत्मा मान बैठने के कारण अत्यधिक मोहग्रस्त था। उसने शिवजी के चरणों के प्रति अपराध किया, क्योंकि उसने अपने को सती के शरीर का पिता मानकर अपने शरीर को शिव से श्रेष्ठ मान लिया था। सामान्यतः अल्पज्ञानी ऐसी ही त्रुटि करते हैं और वे देहात्म-बुद्धि से काम लेते हैं। इस प्रकार वे महात्माओं के चरणकमलों के प्रति अधिकाधिक अपराध करते जाते हैं। जो जीवन के प्रति ऐसी विचारधारा रखता है, वह गायों तथा गधों जैसे पशुओं की श्रेणी में गिना जाता है।

यद्द्व्यक्षरं नाम गिरेरितं नृणां

सकृत्प्रसङ्गादघमाशु हन्ति तत् ।

पवित्रकीर्तिं तमलङ्घ्यशासनं

भवानहो द्वेष्टि शिवं शिवेतरः ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो; द्वि-अक्षरम्—दो अक्षरों वाले; नाम—नाम; गिरा ईरितम्—जीभ से उच्चरित होकर; नृणाम्—मनुष्यों की; सकृत्—एक बार; प्रसङ्गात्—हृदय से; अघम्—पापपूर्ण कृत्य; आशु—तुरन्त; हन्ति—नष्ट कर देता है; तत्—वह; पवित्र-कीर्तिम्—शुद्ध यश; तम्—उसको; अलङ्घ्य-शासनम्—जिनके आदेश की उपेक्षा नहीं की जाती; भवान्—आप; अहो—ओह; द्वेष्टि—द्वेष करते हैं; शिवम्—भगवान् शिव से; शिव-इतरः—अशुभ।

सती ने आगे कहा : हे पिता, आप शिव से द्वेष करके घोरतम अपराध कर रहे हैं क्योंकि उनका दो अक्षरों, शि तथा व, वाला नाम मनुष्य को समस्त पापों से पवित्र करने वाला है। उनके आदेश की कभी उपेक्षा नहीं होती। शिवजी सदैव शुद्ध हैं और आपके अतिरिक्त अन्य कोई उनसे द्वेष नहीं करता।

तात्पर्य : चूँकि इस भौतिक जगत के प्राणियों में शिव ही सबसे महान् आत्मा हैं, अतः जो लोग

देह को आत्मा मानते हैं उनके लिए उनका नाम परम कल्याणकारी है। यदि ऐसे लोग भगवान् शिव की शरण ग्रहण करें तो वे क्रमशः समझ सकेंगे कि वे देह नहीं, वरन् आत्मा हैं। शिव का अर्थ है मंगल। शरीर के भीतर आत्मा मंगल है। *अहं ब्रह्मास्मि* “मैं ब्रह्म हूँ” यह अनुभूति शुभ है। जब तक कोई अपनी पहचान आत्मा से नहीं करता, तब तक वह जो कुछ भी करता है, वह अशुभ है। “शिव” का अर्थ है “मंगलकारी” और शिव के भक्त धीरे-धीरे आत्मबोध के पद को प्राप्त करते हैं, किन्तु यही सब कुछ नहीं है। शुभ जीवन आत्मबोध से ही प्रारम्भ होता है। किन्तु कुछ अन्य कर्तव्य भी होते हैं— मनुष्य को परमेश्वर के साथ अपने सम्बन्ध को समझना होता है। यदि वास्तव में कोई शिव का भक्त है, तो उसे आत्मबोध होता है। किन्तु यदि वह काफी बुद्धिमान नहीं होता तो वह वहीं रुक जाता है और केवल यही समझ पाता है कि वह आत्मा है (*अहं ब्रह्मास्मि*)। यदि वह बुद्धिमान है, तो उसे शिव के मार्ग पर अग्रसर होते रहना चाहिए, क्योंकि भगवान् शिव निरन्तर वासुदेव के विचारों में लीन रहते हैं। जैसाकि पहले कहा जा चुका है— *सत्त्वं विशुद्धं वसुदेवशब्दितम्*— भगवान् शिव सदैव वासुदेव श्रीकृष्ण के चरणकमल का ध्यान करते रहते हैं। इस प्रकार मनुष्य को भगवान् शिव के मंगल पद का बोध तभी होता है जब वह विष्णु की पूजा करता है, क्योंकि *शिवपुराण* में शिव का कथन है कि सर्वश्रेष्ठ पूजा विष्णु की पूजा है। भगवान् शिव पूजे जाते हैं, क्योंकि वे भगवान् विष्णु के सबसे बड़े भक्त हैं। किन्तु हमें कभी भी शिव तथा विष्णु को समान स्तर पर मानने की भूल नहीं करनी चाहिए। ऐसा करना नास्तिक विचार है। *वैष्णवीय पुराण* में यह भी कहा गया है कि विष्णु या नारायण परम पूज्य भगवान् ही हैं और उनकी तुलना किसी से नहीं करनी चाहिए, न तो शिव से, न ब्रह्मा से। अन्य देवताओं की तो बात ही नहीं उठती।

यत्पादपद्मं महतां मनोऽलिभि-

निषेवितं ब्रह्मरसासवार्थिभिः ।

लोकस्य यद्वर्षति चाशिषोऽर्थिन-

स्तस्मै भवान्द्रुहति विश्वबन्धवे ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

यत्-पाद-पद्मम्—जिनके चरणकमल; महताम्—महान् पुरुषों के; मनः-अलिभिः—मनरूपी भौरों से; निषेवितम्—संलग्न रहकर; ब्रह्म-रस—दिव्य आनन्द (ब्रह्मानन्द) का; आसव-अर्थिभिः—अमृत की खोज में; लोकस्य—सामान्य जन की; यत्—

जो; वर्षति—पूरी करता है; च—तथा; आशिषः—इच्छाएँ; अर्थिनः—ढूँढते हुए; तस्मै—उस; भवान्—आप; द्रुहति—द्रोह करते हैं; विश्व-बन्धवे—तीनों लोक की समस्त जीवात्माओं के मित्र के प्रति।

आप उन शिव से द्रोह करते हैं, जो तीनों लोकों के समस्त प्राणियों के मित्र हैं। वे सामान्य पुरुषों की समस्त इच्छाओं को पूरा करने वाले हैं और ब्रह्मानन्द (दिव्य आनन्द) की खोज करने वाले उन महापुरुषों को भी आशीर्वाद देते हैं, जो उनके चरण-कमलों के ध्यान में लीन रहते हैं।

तात्पर्य : सामान्य रूप से मनुष्यों की दो श्रेणियाँ हैं। एक तो वे जो नितान्त भौतिकतावादी हैं, भौतिक सम्पत्ति के कामी हैं और शिव की पूजा करने से जिनकी इच्छाएँ पूरी होती हैं। आशुतोष होने के कारण शिवजी सामान्य जनों की भौतिक इच्छाओं को पूरा करने वाले हैं, अतः यह देखा जाता है कि सामान्य जन उनकी पूजा करने में विशेष तत्पर रहते हैं। दूसरे वे लोग हैं, जो भौतिक जीवन से ऊब गये हैं, वे मोक्ष पाने के लिए शिवजी की पूजा करते हैं जिसका अर्थ है देहात्म-बुद्धि से मुक्ति। जो यह समझता है कि वह देह नहीं, वरन् आत्मा है, वह अविद्या से मुक्ति पा जाता है। भगवान् शिव भी यह सुविधा प्रदान करते हैं। सामान्य रूप से लोग आर्थिक विकास करके धन कमाने के लिए धर्म धारण करते हैं, क्योंकि धन से वे अपनी इन्द्रियों को तुष्ट कर सकते हैं। किन्तु जब वे जीवन से ऊब जाते हैं, वे आत्मिक ब्रह्मानन्द चाहते हैं, अर्थात् परमेश्वर से तदाकार होना चाहते हैं। धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष—ये चार भौतिक जीवन के पुरुषार्थ हैं और भगवान् शिव सामान्य जनों के तथा आध्यात्मिक ज्ञान में उन्नत लोगों के समान रूप से मित्र हैं। अतः इनसे शत्रुता करना दक्ष के लिए उचित न था। यहाँ तक कि वैष्णव भी, जो इस लोक के सामान्य तथा उन्नत जनों से बढ़कर हैं, शिव की पूजा सर्वश्रेष्ठ वैष्णव के रूप में करते हैं। इस प्रकार वे सबों के मित्र हैं—चाहे सामान्यजन हों, उन्नत जन हों या कि भगवद्भक्त हों—अतः किसी को भी न तो शिवजी का अनादर करना चाहिए, न उनसे शत्रुता करनी चाहिए।

किं वा शिवाख्यमशिवं न विदुस्त्वदन्ये
 ब्रह्मादयस्तमवकीर्यं जटाः श्मशाने ।
 तन्माल्यभस्मनृकपाल्यवसत्पिशाचै-
 र्ये मूर्धभिर्दधति तच्चरणावसृष्टम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

किम् वा—अथवा; शिव-आख्यम्—शिव कहलाने वाले; अशिवम्—अशुभ, अमंगल; न विदुः—नहीं जानते; त्वत् अन्ये—आपके अतिरिक्त, अन्य; ब्रह्म-आदयः—ब्रह्मा इत्यादि; तम्—उन्को (शिव को); अवकीर्य—बिखरे हुए; जटाः—जटा बनाये; श्मशाने—श्मशान में; तत्-माल्य-भस्म-नृ-कपाली—जो नर-मुंडों की माला पहने और राख लगाये हुए हैं; अवसत्—संग रहने वाले; पिशाचैः—असुरों के साथ; ये—जो; मूर्धभिः—शिर से; दधति—धारण करते हैं; तत्-चरण-अवसृष्टम्—उनके चरणकमल से गिरी हुई।

क्या आप यह सोचते हैं कि आपसे भी बढ़कर सम्माननीय व्यक्ति जैसे भगवान् ब्रह्मा, इस शिव नाम से विख्यात अमंगल व्यक्ति को नहीं जानते? वे श्मशान में असुरों के साथ रहते हैं, उनकी जटाएँ शरीर के ऊपर बिखरी रहती हैं, वे नरमुंडों की माला धारण करते हैं और श्मशान की राख शरीर में लपेटे रहते हैं, किन्तु इन अशुभ गुणों के होते हुए भी ब्रह्मा जैसे महापुरुष उनके चरणों पर चढ़ाये गये फूलों को आदरपूर्वक अपने मस्तकों पर धारण करके उनका सम्मान करते हैं।

तात्पर्य : शिव जैसे महापुरुष की भर्त्सना करना निरर्थक है और ऐसा उनकी पत्नी सती द्वारा कहा जा रहा है, जिससे उनकी श्रेष्ठता सिद्ध हो सके। पहले उन्होंने कहा, “आप शिव को अशुभ कहते हैं, क्योंकि वे श्मशान में असुरों के साथ रहते हैं, अपने शरीर में मृतकों की राख लगाते हैं और नरमुंडों की माला से अपने को सज्जित करते हैं। आपने उनके अनेक दोष बताये हैं; किन्तु आप नहीं जानते कि उनकी स्थिति सदैव दिव्य है। यद्यपि वे अशुभ प्रतीत होते हैं, तो फिर ब्रह्मा जैसे महापुरुष उनके चरणकमलों की धूल को अपने मस्तकों पर धारण करके उनका सम्मान क्यों करते हैं जिनकी आप निन्दा करते हैं?” चूँकि सती साध्वी स्त्री थीं और शिव की पत्नी थीं, अतः यह उनका कर्तव्य था कि वे शिव के उच्च पद को न केवल भावनाओं से वरन् तथ्यों के आधार पर स्थापित करें। शिव कोई सामान्य जीवात्मा नहीं हैं। यही शास्त्रों का मत है। वे न तो भगवान् के स्तर पर हैं और न सामान्य जीवात्माओं के स्तर पर। ब्रह्मा प्रायः सभी प्रकार से सामान्य जीवात्मा हैं। कभी-कभी जब कोई सामान्य जीवात्मा उपलब्ध नहीं होता तो ब्रह्मा का पद विष्णु के किसी विस्तार (अंश) द्वारा ग्रहण किया जाता है, किन्तु साधारणतः यह पद इस ब्रह्माण्ड की सबसे पवित्र जीवात्मा द्वारा ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार शिव का पद वैधानिक रूप में ब्रह्मा से सदैव उँचा रहता है, यद्यपि शिवजी ब्रह्मा के पुत्र रूप में उत्पन्न हुए हैं। यहाँ इसका उल्लेख है कि ब्रह्मा जैसे पुरुष भी शिव के चरणकमलों की तथाकथित अशुभ धूल तथा फूलों को स्वीकार करते हैं। ब्रह्मा के वंशज नौ महर्षियों में से मरीचि,

अत्रि, भृगु इत्यादि भी शिव का इसीप्रकार आदर करते हैं, क्योंकि उन्हें ज्ञात है कि शिवजी कोई सामान्य जीवात्मा नहीं हैं।

अनेक पुराणों में कभी-कभी इसकी पुष्टि की जाती है कि कोई-कोई देवता इतना ऊपर उठ जाता है कि वह लगभग भगवान् के पद तक पहुँच जाता है, किन्तु प्रत्येक धर्मग्रन्थ में इसकी पुष्टि हुई है कि भगवान् विष्णु ही पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् (परमेश्वर) हैं। *ब्रह्म संहिता* में शिव को दही या मट्ठा जैसा कहा गया है। दही दूध से भिन्न नहीं, क्योंकि दूध से ही दही बनता है, अतः एक अर्थ में दही दूध ही है। इसी प्रकार शिव भी एक प्रकार से श्रीभगवान् हैं, किन्तु दूसरे विचार से वे ऐसे नहीं हैं, क्योंकि जैसे दही दूध होते हुए भी हमें दूध तथा दही में भेद करना पड़ता है। ये विवरण वैदिक साहित्य में उपलब्ध हैं। जब भी हम किसी देवता को भगवान् से अधिक उच्च पद पर आसीन पाते हैं, तो उसका उद्देश्य उस देवता विशेष के प्रति भक्तों का ध्यान आकर्षित करना होता है। *भगवद्गीता* (९.२५) में यह भी कहा गया है यदि कोई किसी विशेष देवता को पूजना चाहता है, तो सबों के हृदय में आसीन भगवान् उस देवता के प्रति अधिकाधिक आसक्ति उत्पन्न करते हैं, जिससे वह व्यक्ति उस देवता के धाम को पहुँच सके। *यान्ति देवव्रता देवान्*। देवताओं की पूजा द्वारा मनुष्य देवताओं के धाम को प्राप्त हो सकता है, इस प्रकार भगवान् की पूजा द्वारा वह दिव्य लोक को जा सकता है। वैदिक साहित्य में इसका स्थान-स्थान पर उल्लेख है। यहाँ पर सती द्वारा शिव की प्रशंसा कुछ तो पति होने से उनके प्रति व्यक्तिगत आदर के कारण और कुछ उनकी पूज्य स्थिति के कारण है, जो सामान्य जीवात्माओं, यहाँ तक कि ब्रह्मा से भी, बढ़कर है।

जब शिव के पद को ब्रह्मा मानते हैं, तो सती के पिता दक्ष को भी यह मानना चाहिए था। सती के कथन का यही तात्पर्य था। वे वास्तव में अपने पिता के घर उत्सव में सम्मिलित होने नहीं आई थीं, यद्यपि आने के पूर्व उन्होंने अपने पति से यही तर्क दिया था कि वे अपनी बहनों तथा माता से भेंट करना चाहती थीं। यह तो कोरी दलील थी, क्योंकि अपने अन्तःकरण में उन्होंने यह भाव बना रखा था कि वे अपने पिता दक्ष को आश्चस्त करेंगी कि शिव से विरोध बनाए रखना वृथा है। यही उनका मुख्य उद्देश्य था। किन्तु जब वे अपने पिता को समझा पाने में असमर्थ हो गईं तो उन्होंने पिता द्वारा प्रदत्त

शरीर को त्याग दिया, जैसाकि अगले श्लोकों में को मिलेगा।

कर्णौ पिधाय निरयाद्यदकल्प ईशे
धर्मावितर्यसृणिभिर्नृभिरस्यमाने ।
छिन्द्यात्प्रसह्य रुशतीमसतीं प्रभुश्चे-
जिह्वामसूनपि ततो विसृजेत्स धर्मः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

कर्णौ—दोनों कान; पिधाय—बन्द करके; निरयात्—चले जाना चाहिए; यत्—यदि; अकल्पः—असमर्थ; ईशे—स्वामी; धर्म-
अवितरि—धर्म का नियंत्रक; असृणिभिः—निरंकुश; नृभिः—व्यक्ति; अस्यमाने—कलंकित होकर; छिन्द्यात्—काट देना
चाहिए; प्रसह्य—बलपूर्वक; रुशतीम्—निन्दा करने वाली; असतीम्—निन्दक की; प्रभुः—समर्थ; चेत्—यदि; जिह्वाम्—जीभ;
असून्—(अपना) जीवन; अपि—निश्चय ही; ततः—तब; विसृजेत्—त्याग देना चाहिए; सः—वह; धर्मः—विधि है।

सती ने आगे कहा : यदि कोई किसी निरंकुश व्यक्ति को धर्म के स्वामी तथा नियंत्रक की निन्दा करते सुने और यदि वह उसे दण्ड देने में समर्थ नहीं है, तो उसे चाहिए कि कान मूँद कर वहाँ से चला जाय। किन्तु यदि वह मारने में सक्षम है, तो उसे चाहिए कि वह बलपूर्वक निन्दक की जीभ काट ले और अपराधी का वध कर दे। तत्पश्चात् वह अपने भी प्राण त्याग दे।

तात्पर्य : सती ने जो तर्क दिया वह यह है कि जो मनुष्य किसी महान् पुरुष की निन्दा करता है, वह अधम है। किन्तु उसी तर्क से दक्ष यह कहकर सफाई दे सकता था कि प्रजापति होने के कारण उसका पद इतना सम्माननीय था कि सती निन्दा करने के बजाय उसके गुणों को स्वीकार कर सकती थी। किन्तु इस तर्क का उत्तर यह है कि सती निन्दा नहीं कर रही थी, वह तो सफाई दे रही थी। यदि सम्भव होता तो वह दक्ष की जीभ काट लेती, क्योंकि उसने शिव की निन्दा की थी। दूसरे शब्दों में, चूँकि शिव धर्म के रक्षक हैं, अतः जो कोई भी उनकी निन्दा करता है, उसका तुरन्त वध कर दिया जाना चाहिए और ऐसे व्यक्ति को मारने के बाद स्वयं अपने प्राण दे देने चाहिए। यही विधान है। किन्तु दक्ष सती का पिता था, इसलिए सती ने उसे मारने की अपेक्षा अपने प्राण दे देना उचित समझा। इससे उस पाप से मुक्ति मिल जाएगी, जो उसने शंकर का अपमान सुनकर किया था। श्रीमद्भागवत में यह शिक्षा दी गई है कि किसी भी दशा में उस व्यक्ति की हरकतों को, जो किसी महापुरुष का अपमान करता है, सहन नहीं करना चाहिए। यदि कोई ब्राह्मण हो तो उसे चाहिए कि वह अपना शरीर न त्यागे, क्योंकि ऐसा करने से उसे ब्राह्मण-वध का पाप चढ़ेगा, अतः ब्राह्मण को चाहिए कि वह उस स्थान को

छोड़कर चला जाये या फिर अपने कान बन्द कर ले जिससे वह अपमान की बातें न सुन सके। यदि वह क्षत्रिय है, तो उसमें इतनी शक्ति होती है कि वह किसी भी व्यक्ति को दंड दे सके, अतः क्षत्रिय को चाहिए कि निन्दक की जीभ तुरन्त काट कर उसका वध कर दे। किन्तु जहाँ तक वैश्यों तथा शूद्रों का प्रश्न है, उन्हें चाहिए कि वे तुरन्त अपने प्राण दे दें। सती ने अपना शरीर त्यागने का संकल्प किया, क्योंकि उसने अपने को शूद्रों तथा वैश्यों में से एक समझा। जैसाकि *भगवद्गीता* (९.३२) में कहा गया है *स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्राः।* स्त्रियाँ, श्रमिक तथा वणिक वर्ग एक ही स्तर के हैं। चूँकि यह संस्तुति की गई है कि शिव जैसे किसी महापुरुष की निन्दा सुनने पर शूद्रों तथा वैश्यों को अपने प्राण दे देने चाहिए, अतः सती ने अपने प्राण देने का निश्चय किया।

अतस्तवोत्पन्नमिदं कलेवरं

न धारयिष्ये शितिकण्ठगर्हिणः ।

जग्धस्य मोहाद्धि विशुद्धिमन्धसो

जुगुप्सितस्योद्धरणं प्रचक्षते ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

अतः—इसलिए; तव—तुम से; उत्पन्नम्—प्राप्त; इदम्—यह; कलेवरम्—शरीर; न धारयिष्ये—धारण नहीं करूँगी; शिति-कण्ठ-गर्हिणः—शिव को अपमानित करने वाला; जग्धस्य—खाया गया; मोहात्—भूल से; हि—क्योंकि; विशुद्धिम्—शुद्धि; अन्धसः—भोजन का; जुगुप्सितस्य—विषैला; उद्धरणम्—वमन, कै; प्रचक्षते—घोषित किया जाता है।

अतः मैं इस अयोग्य शरीर को, जिसे मैंने आपसे प्राप्त किया है और अधिक काल तक धारण नहीं करूँगी, क्योंकि आपने शिवजी की निन्दा की है। यदि कोई विषैला भोजन कर ले तो सर्वोत्तम उपचार यही है कि उसे वमन कर दिया जाय।

तात्पर्य : चूँकि सती भगवान् की बहिरंगा शक्ति की प्रतिनिधि थीं, अतः यह उनके वश में था कि वे अनेक ब्रह्माण्डों को, जिसमें अनेकों दक्ष सम्मिलित हैं, विनष्ट कर दें, किन्तु अपने पति को इस दोषारोपण से बचाने के लिए कि उन्होंने दक्ष को मारने के लिए अपनी पत्नी सती को माध्यम बनाया, क्योंकि वे स्वयं निम्न पद पर स्थित होने से वैसा नहीं कर सके, सती ने अपना शरीर त्यागने का निश्चय किया।

न वेदवादानुवर्तते मतिः

स्व एव लोके रमतो महामुनेः ।
 यथा गतिर्देवमनुष्ययोः पृथक्
 स्व एव धर्मे न परं क्षिपेत्स्थितः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; वेद-वादान्—वेदों के विधि-विधान; अनुवर्तते—पालन करते; मतिः—मन; स्वे—अपनी ओर से; एव—निश्चय ही; लोके—आत्म में; रमतः—भोगता हुआ; महा-मुनेः—दिव्य पुरुषों का; यथा—जिस प्रकार; गतिः—मार्ग, ढंग; देव-मनुष्ययोः—मनुष्यों तथा देवताओं का; पृथक्—अलग-अलग; स्वे—अपने में; एव—अकेले; धर्मे—कर्तव्य; न—नहीं; परम्—अन्य; क्षिपेत्—आलोचना करे; स्थितः—स्थित होकर।

दूसरों की आलोचना करने से श्रेयस्कर है कि अपना कर्तव्य निभाया जाये। बड़े-बड़े दिव्य पुरुष भी कभी-कभी वेदों के विधि-विधानों का उल्लंघन कर देते हैं, क्योंकि उन्हें अनुसरण करने की आवश्यकता नहीं होती, ठीक उसी प्रकार जैसे कि देवता तो आकाश मार्ग में विचरते हैं, किन्तु सामान्य जन धरती पर चलते हैं।

तात्पर्य : उच्चस्थ योगियों तथा अत्यन्त पतित बद्धजीव का आचरण एक सा प्रतीत होता है। उच्चस्थ योगी वेदों के समस्त विधानों का अतिक्रमण कर सकते हैं जिस प्रकार कि आकाश में विचरण करने वाले देवता पृथ्वी के समस्त जंगलों तथा शैलों को पार कर लेते हैं, किन्तु सामान्य पुरुष को ऐसी सुविधा न होने से इन सारे व्यवधानों का सामना करना पड़ता है। यद्यपि परम प्रिय शिव वेदों के विधि-विधानों का लेशमात्र भी पालन करते प्रतीत नहीं होते, और ऐसी अवज्ञा से उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। किन्तु यदि सामान्य पुरुष उनकी नकल करना चाहे तो वह बड़ी भारी भूल करेगा। सामान्य पुरुष को वेदों के समस्त विधि-विधानों का पालन करना चाहिए जबकि दिव्य स्थिति को प्राप्त पुरुष को इन सबके पालन की आवश्यकता नहीं रह जाती। दक्ष ने शिव पर दोषारोपण किया था कि वे वेदों के कठोर विधि-विधानों का पालन नहीं करते, किन्तु सती ने बलपूर्वक बताना चाहा कि उन्हें ऐसे नियमों के पालन की कोई आवश्यकता न थी। कहा गया है कि जो सूर्य या अग्नि के समान तेजस्वी हो उसे शुद्धि या अशुद्धि की कोई परवाह नहीं रहती। धूप अपवित्र स्थान को जीवाणु रहित कर सकती है, किन्तु यदि अन्य किसी को वहाँ से निकल कर जाना पड़े तो वह प्रभावित हुए बिना नहीं रहेगा। मनुष्य को चाहिए कि शिवजी की नकल न करे, अपितु अपने निर्दिष्ट कर्तव्यों का दृढ़ता से पालन करे। उसे चाहिए कि वह शिवजी जैसे महापुरुष की कभी भी निन्दा न करे।

कर्म प्रवृत्तं च निवृत्तमप्यृतं
 वेदे विविच्योभयलिङ्गमाश्रितम् ।
 विरोधि तद्यौगपदैककर्तारि
 द्वयं तथा ब्रह्मणि कर्म नच्छति ॥ २० ॥

शब्दार्थ

कर्म—कार्य; प्रवृत्तम्—भौतिक सुख में आसक्त; च—तथा; निवृत्तम्—भौतिक दृष्टि से विरक्त; अपि—निश्चय ही; ऋतम्—सत्य; वेदे—वेदों में; विविच्य—अन्तर वाले; उभय-लिङ्गम्—दोनों के लक्षण; आश्रितम्—निर्देशित; विरोधि—विरोधी; तत्—वह; यौगपद-एक-कर्तारि—एक ही व्यक्ति में दोनों कर्म; द्वयम्—दो; तथा—अतः; ब्रह्मणि—दिव्य पुरुष में; कर्म—कार्य; न ऋच्छति—उपेक्षित होते हैं।

वेदों में दो प्रकार के कर्मों के निर्देश दिये गये हैं—एक उनके लिए जो भौतिक सुख में लिप्त हैं और दूसरा उनके लिए जो भौतिक रूप से विरक्त हैं। इन दो प्रकार के कर्मों का विचार करते हुए दो प्रकार के मनुष्य हैं जिनके लक्षण भिन्न-भिन्न हैं। यदि कोई एक ही व्यक्ति में इन दोनों प्रकार के कर्मों को देखना चाहता है, तो यह विरोधाभास होगा। किन्तु दिव्य पुरुष के द्वारा इन दोनों प्रकार के कर्मों की उपेक्षा की जा सकती है।

तात्पर्य : वैदिक कर्मों को इस प्रकार से निरूपित किया गया है कि बद्धजीव निर्दिष्ट स्थिति में इस संसार का भोग करके अन्त में भोग से विरक्त होकर दिव्य स्थिति को प्राप्त हो। चारों सामाजिक आश्रम—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास—दिव्य जीवन के पद तक उत्तरोत्तर पहुँचने की शिक्षा देते हैं। गृहस्थ के कर्म तथा वेश संन्यासी से भिन्न हैं। एक ही व्यक्ति के लिए इन दोनों आश्रमों को ग्रहण कर पाना असम्भव है। न तो संन्यासी गृहस्थ की तरह कर्म कर सकता है और न गृहस्थ संन्यासी की भाँति। किन्तु इन दो प्रकार के मनुष्यों के ऊपर मनुष्य की तीसरी कोटि भी है, जो इन दोनों से परे है। भगवान् शिव को दिव्य पद प्राप्त है, क्योंकि ऊपर कहे अनुसार वे अपने अन्तर में भगवान् वासुदेव के ध्यान में खोये रहते हैं। अतः उन पर न तो गृहस्थ के और न संन्यासियों के कर्म लागू होते हैं। वे परमहंस अवस्था को प्राप्त हैं। भगवद्गीता (२.५२-५३) में भी शिव की दिव्य स्थिति की व्याख्या है। वहाँ यह कहा गया है कि जब फल की इच्छा के बिना कर्म करते हुए भगवान् की दिव्य सेवा की जाती है, तो मनुष्य दिव्य पद को प्राप्त होता है। उस समय उसके लिए वैदिक आदेशों या वेदों के विभिन्न विधि-विधानों का पालन करना अनिवार्य नहीं होता। जब मनुष्य वैदिक अनुष्ठानों से सम्बन्धित अपनी कामनाओं को पूरा करने के आदेशों के ऊपर उठकर दिव्य विचार में पूर्णतः खोया रहता है,

अर्थात् भगवान् के विचार में मग्न रहता है, तो इस स्थिति को बुद्धियोग या समाधि कहते हैं। जो पुरुष इस स्थिति को प्राप्त कर लेता है उस पर न तो भौतिक सुख प्राप्त करने के और न विरक्ति के वैदिक कर्म लागू होते हैं।

मा वः पदव्यः पितरस्मदास्थिता
या यज्ञशालासु न धूमवर्त्मभिः ।
तदन्नतृप्तैरसुभृद्धिरीडिता
अव्यक्तलिङ्गा अवधूतसेविताः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

मा—नहीं हैं; वः—तुम्हारे; पदव्यः—ऐश्वर्य; पितः—हे पिता; अस्मत्-आस्थिताः—हमारे द्वारा प्राप्त; याः—जो (ऐश्वर्य); यज्ञ-शालासु—यज्ञ की अग्नि में; न—नहीं; धूम-वर्त्मभिः—यज्ञों के पथ द्वारा; तत्-अन्न-तृप्तैः—यज्ञ के अन्न द्वारा तृप्त; असु-भृद्धिः—शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाला; ईडिताः—प्रशंसित; अव्यक्त-लिङ्गाः—जिसका कारण प्रकट नहीं है; अवधूत-सेविताः—स्वरूपसिद्ध व्यक्तियों द्वारा प्राप्त।

हे पिता, हमारे पास जो ऐश्वर्य है उसकी कल्पना कर पाना न तो आपके लिए और न आपके चाटुकारो के लिए सम्भव है, क्योंकि जो पुरुष महान् यज्ञों को सम्पन्न करके सकाम कर्म में प्रवृत्त होते हैं, वे तो अपनी शारीरिक आवश्यकताओं को यज्ञ में अर्पित अन्न खाकर पूरा करने की चिन्ता में लगे रहते हैं। हम वैसा सोचने मात्र से ही अपने ऐश्वर्य का प्रदर्शन कर सकते हैं। ऐसा वे ही कर सकते हैं, जो विरक्त, स्वरूपसिद्ध महापुरुष हैं।

तात्पर्य : सती के पिता इस भुलावे में थे कि वे प्रतिष्ठा तथा ऐश्वर्य दोनों में बड़े हैं और उन्होंने अपनी कन्या ऐसे व्यक्ति को दी है, जो न केवल निर्धन है, वरन् समस्त संस्कृति से रहित है। उनके पिता यह सोचते रहे होंगे कि यद्यपि मेरी पुत्री परम साध्वी है और अपने पति की अनुगामिनी है, किन्तु उसके पति की दशा दयनीय है। ऐसे विचारों के प्रत्युत्तर में सती ने कहा कि उनके पति के ऐश्वर्य को दक्ष जैसे भौतिकतावादी व्यक्ति तथा उनके अनुचर नहीं समझ सकते जो झूठी बड़ाई करने वाले तथा सकाम कर्मों में लगे रहने वाले हैं। उनके पति की स्थिति सर्वथा भिन्न थी। उनके पास सारा ऐश्वर्य था, किन्तु वे उसका प्रदर्शन करना नहीं चाहते थे। अतः ऐसे ऐश्वर्य को अव्यक्त कहा जाता है। किन्तु यदि आवश्यकता पड़े तो इच्छा मात्र से वे अपना अद्भुत ऐश्वर्य दिखला सकते हैं और ऐसी घटना का यहाँ पूर्वाभास मिलता है क्योंकि ऐसा शीघ्र ही घटनेवाला है। शिव द्वारा अधिकृत ऐश्वर्य का भोग वैराग्य

तथा ईश्वरप्रेम में किया जा सकता है, इन्द्रियतृप्ति के लिए अपनाये जाने वाली भौतिक विधियों के द्वारा नहीं। ऐसे ऐश्वर्य के स्वामी कुमारगण, नारद तथा शिव जैसे महापुरुष हैं, अन्य कोई नहीं।

इस श्लोक में वैदिक अनुष्ठान करने वालों की भर्त्सना की गई है। उन्हें *धूम वर्त्माभिः* कहा गया है अर्थात् जो यज्ञ के उच्छिष्ट अन्न से अपना पोषण करते हैं। यज्ञ में दो प्रकार के अन्नों की भेंट अर्पित की जाती है। एक तो सकाम आनुष्ठानिक यज्ञों में चढ़ाया अन्न तथा दूसरा है, विष्णु को चढ़ाया गया अन्न जो सर्वोत्तम होता है। यद्यपि यज्ञ की वेदी में सभी प्रकार से विष्णु ही प्रमुख देव हैं, किन्तु सकाम अनुष्ठानों के कर्ता कुछ-न-कुछ भौतिक सम्पन्नता प्राप्त करने के उद्देश्य से विभिन्न देवताओं को प्रसन्न करना चाहते हैं। किन्तु वास्तविक यज्ञ का उद्देश्य तो विष्णु को प्रसन्न करना है और ऐसे यज्ञों के अवशेष भक्ति को बढ़ाने में लाभप्रद हैं। विष्णु के अतिरिक्त अन्य को लक्ष्य बनाकर किये जाने वाले यज्ञों के करने से उन्नति की प्रक्रिया अत्यन्त मन्द होती है। इसीलिए इस श्लोक में इसकी भर्त्सना की गई है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने अनुष्ठान सम्मन्न कराने वालों को कौवों की तरह बताया है, क्योंकि कौवों को कूड़ेदान में फेंका गया जूठन खाने में आनन्द मिलता है। सती ने यज्ञ कराने के लिए उपस्थित समस्त ब्राह्मणों की भी भर्त्सना की।

भले ही राजा दक्ष तथा उनके प्रशंसकों ने शिव की स्थिति को समझा हो या नहीं, सती अपने पिता को यह बता देना चाहती थीं कि उन्हें यह कदापि नहीं सोचना चाहिए कि उनके पति ऐश्वर्य से विहीन हैं। शिवजी की निष्ठावान पत्नी होने के कारण सती शिव के उपासकों को सभी प्रकार का भौतिक ऐश्वर्य प्रदान करती हैं। इस तथ्य की व्याख्या *श्रीमद्भागवत* में दशम स्कन्ध में की गई है। कभी-कभी शिव के उपासक भगवान् विष्णु के उपासकों से अधिक ऐश्वर्यवान लगते हैं, क्योंकि दुर्गा अथवा सती सांसारिक कार्य कलापों की अधीक्षक हैं, और अपने पति को यशस्वी बनाने के लिए वे उपासकों को सभी प्रकार का भौतिक ऐश्वर्य प्रदान करती रहती हैं, जबकि विष्णु के उपासक तो आध्यात्मिक उन्नति के निमित्त हैं, अतः कभी-कभी उनका भौतिक ऐश्वर्य घटता प्रतीत होता है। दशम स्कन्ध में ये सारी बातें सुन्दर ढंग से समझाई गई हैं।

नैतेन देहेन हरे कृतागसो
 देहोद्भवेनालमलं कुजन्मना ।
 व्रीडा ममाभूत्कुजनप्रसङ्गतस्
 तजन्म धिग्यो महतामवद्यकृत् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; एतेन—इस; देहेन—देह के द्वारा; हरे—शिव के प्रति; कृत-आगसः—अपराध करके; देह-उद्भवेन—आपके शरीर से उत्पन्न; अलम् अलम्—बहुत हुआ, बहुत हुआ, बस बस; कु-जन्मना—निन्दनीय जन्म से; व्रीडा—लज्जा; मम—मेरा; अभूत्—था; कु-जन-प्रसङ्गतः—बुरे व्यक्ति के साथ से; तत् जन्म—वह जन्म; धिक्—धिक्कार है, लज्जाजनक; यः—जो; महताम्—महापुरुषों का; अवद्य-कृत्—अपराधी ।

आप भगवान् शिव के चरणकमलों के प्रति अपराधी हैं और दुर्भाग्यवश मेरा शरीर आपसे उत्पन्न है। मुझे अपने इस शारीरिक सम्बन्ध के लिए अत्यधिक लज्जा आ रही है और मैं अपनी स्वयं भर्त्सना करती हूँ कि मेरा शरीर ऐसे व्यक्ति के सम्बन्ध से दूषित है, जो महापुरुष के चरणकमलों के प्रति अपराधी है।

तात्पर्य : शिवजी भगवान् विष्णु के समस्त भक्तों में सर्वोच्च हैं। कहा गया है—*वैष्णवानां यथा शम्भुः* / शम्भु अर्थात् शिव, भगवान् विष्णु के सबसे बड़े भक्त हैं। पिछले श्लोकों में सती ने कहा है कि शिव सदैव दिव्य स्थिति को प्राप्त रहते हैं, क्योंकि वे शुद्ध *वासुदेव* अवस्था में स्थित रहते हैं। *वासुदेव* वह अवस्था है, जिससे *वासुदेव* श्रीकृष्ण उत्पन्न हैं, अतः शिवजी श्रीकृष्ण के सबसे बड़े भक्त हैं और सती का आचरण आदर्शमय है, क्योंकि किसी को भी भगवान् विष्णु या उनके भक्त का अपमान सहन नहीं करना चाहिए। सती को शिव की संगिनी होने का खेद नहीं है बल्कि दुख इसका है कि उनका शरीर दक्ष से उत्पन्न है, जो शिवजी के चरणकमलों के प्रति अपराधी है। वे अपने को धिक्कारती हैं, क्योंकि उनका यह शरीर उनके पिता दक्ष द्वारा प्रदत्त है।

गोत्रं त्वदीयं भगवान्वृषध्वजो
 दाक्षायणीत्याह यदा सुदुर्मनाः ।
 व्यपेतनर्मस्मितमाशु तदाहं
 व्युत्स्रक्ष्य एतत्कुणपं त्वदङ्गजम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

गोत्रम्—परिवारिक सम्बन्ध; त्वदीयम्—आपका; भगवान्—समस्त ऐश्वर्यों के स्वामी; वृषध्वजः—शिव; दाक्षायणी—दक्ष की कन्या, दाक्षायणी; इति—इस प्रकार; आह—कहती है; यदा—जब; सुदुर्मनाः—अत्यन्त खिन्न; व्यपेत—अदृश्य होते हैं; नर्म-स्मितम्—मेरी प्रसन्नता तथा हँसी; आशु—तुरन्त; तदा—तब; अहम्—मैं; व्युत्स्रक्ष्ये—त्याग दूँगी; एतत्—यह (शरीर); कुणपम्—मृत शरीर; त्वत्-अङ्ग-जम्—तुम्हारे शरीर से उत्पन्न ।

जब शिवजी मुझे दाक्षायणी कह कर पुकारते हैं, तो अपने पारिवारिक सम्बन्ध के कारण मैं तुरन्त खिन्न हो उठती हूँ और मेरी सारी प्रसन्नता तथा हँसी तुरन्त भाग जाती है। मुझे अत्यन्त खेद होता है कि मेरा यह थैले जैसा शरीर आपके द्वारा उत्पन्न है। अतः मैं इसे त्याग दूँगी।

तात्पर्य : दाक्षायणी शब्द का अर्थ है “राजा दक्ष की पुत्री।” कभी-कभी पति तथा पत्नी अवकाश के क्षणों में बातें करते तो शिवजी सती को “दाक्षायणी” कहते और चूँकि इस शब्द से ही उन्हें राजा दक्ष से अपने सम्बन्ध की याद आ जाती तो वह लज्जित होतीं, क्योंकि दक्ष तो समस्त अपराधों का अवतार था। वह द्वेष-रूप था, क्योंकि वह वृथा ही शिव जैसे महापुरुष की निन्दा करता था। अतः दाक्षायणी शब्द को सुनते ही वे शोकाकुल हो उठतीं, क्योंकि दक्ष से उत्पन्न होने से उनका शरीर भी अपराधों का प्रतीक था। चूँकि उनका शरीर सतत अप्रसन्नता का कारण बना रहता था, इसलिए उन्होंने उसे त्याग देने का निश्चय किया।

मैत्रेय उवाच

इत्यध्वरे दक्षमनूद्य शत्रुहन्

क्षितावुदीचीं निषसाद शान्तवाक् ।

स्पृष्ट्वा जलं पीतदुकूलसंवृता

निमील्य दृग्योगपथं समाविशत् ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; इति—इस प्रकार; अध्वरे—यज्ञस्थल में; दक्षम्—दक्ष को; अनूद्य—बोल कर; शत्रु-हन्—शत्रुओं के विनाशकर्ता; क्षितौ—पृथ्वी पर; उदीचीम्—उत्तर की ओर; निषसाद—बैठ गई; शान्त-वाक्—चुप होकर; स्पृष्ट्वा—छूकर; जलम्—जल; पीत-दुकूल-संवृता—पीले वस्त्रों से आच्छादित; निमील्य—मूँद कर; दृक्—दृष्टि; योग-पथम्—योग क्रिया; समाविशत्—ध्यानमग्न हो गई।

मैत्रेय ऋषि ने विदुर से कहा : हे शत्रुओं के संहारक, यज्ञस्थल में अपने पिता से ऐसा कह कर सती भूमि पर उत्तरमुख होकर बैठ गई। केसरिया वस्त्र धारण किये उन्होंने जल से अपने को पवित्र किया और योगक्रिया में अपने को ध्यानमग्न करने के लिए अपनी आँखें मूँद लीं।

तात्पर्य : कहा जाता है कि जब मनुष्य अपना शरीर त्यागना चाहता है, तो वह केसरिया वस्त्र पहन लेता है। अतः ऐसा लगता है कि सती ने अपने वस्त्र बदल दिये, जिससे यह पता चल जाये कि वे दक्ष द्वारा प्रदत्त शरीर को त्यागने जा रही हैं। दक्ष सती के पिता थे, अतः उनका वध करने के बजाय सती ने उनके द्वारा प्रदत्त अपने शरीर को नष्ट करना श्रेयस्कर समझा। उन्होंने अपने शरीर को योगक्रिया द्वारा

त्याग देने का निश्चय किया। सती योगेश्वर शिव की पत्नी थीं। शिवजी समस्त योगियों में श्रेष्ठ हैं, क्योंकि वे समस्त योग-क्रियाएँ जानते हैं, अतः ऐसा जान पड़ता है कि सती भी यह सब जानती थीं। या तो उन्होंने अपने पति से योग सीखा, अथवा दक्ष जैसे महान् सम्राट् की पुत्री होने के कारण वे सुशिक्षित थीं। योग की सिद्धि इसी में है कि स्वेच्छा से मनुष्य अपना शरीर छोड़ दे या भौतिक तत्त्वों के संयोग से अपने को छुटकारा दिला ले। जो योगी सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं उनकी मृत्यु प्राकृतिक नियमों के अनुसार नहीं होती, ऐसे सिद्ध योगी अपनी इच्छानुसार शरीर त्यागते हैं। सामान्य रूप से योगी पहले शरीर के भीतर की वायु को साधने से सिद्धहस्त हो जाता है और इस प्रकार आत्मा को मस्तिष्क के शीर्ष पर ले आता है। फिर जब शरीर से ज्वाला फुट पड़ती है तो योगी इच्छानुसार कहीं भी जा सकता है। इस प्रकार की योगपद्धति में आत्मा को मान्यता दी जाती है और इस प्रकार यह उस तथाकथित योगविधि से भिन्न है, जिसे आधुनिक युग में शरीर की कोशिकाओं के ऊपर नियंत्रण रखने के लिए ढूँढ निकाला गया है। वास्तविक योगपद्धति में आत्मा के एक लोक से दूसरे लोक तक या एक शरीर से दूसरे शरीर में स्थानान्तरण को अपनाया जाता है और इस घटना से ऐसा लगता है कि सती अपनी आत्मा को अन्य शरीर में या लोक में स्थानान्तरित करना चाहा था।

कृत्वा समानावनिलौ जितासना

सोदानमुत्थाप्य च नाभिचक्रतः ।

शनैर्हृदि स्थाप्य धियोरसि स्थितं

कण्ठाद्भ्रुवोर्मध्यमनिन्दितानयत् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

कृत्वा—स्थापित करके; समानौ—साध्यावस्था में; अनिलौ—प्राण तथा अपान वायुओं को; जित-आसना—आसन को वश में करके; सा—वह (सती); उदानम्—प्राण वायु; उत्थाप्य—उठाकर; च—तथा; नाभि-चक्रतः—नाभिचक्र पर; शनैः—धीरे-धीरे; हृदि—हृदय में; स्थाप्य—स्थापित करके; धिया—बुद्धि से; उरसि—फुफ्फुस मार्ग की ओर; स्थितम्—स्थापित की जाकर; कण्ठात्—कंठ से होकर; भ्रुवोः—भौंहों के; मध्यम्—बीच में; अनिन्दिता—निष्कलंक (सती); आनयत्—ऊपर ले गई।

सबसे उन्होंने अपेक्षित रीति से आसन जमाया और फिर प्राणवायु को ऊपर खींचकर नाभि के निकट सन्तुलित अवस्था में स्थापित कर दिया। तब प्राणवायु को उत्थापित करके, बुद्धिपूर्वक उसे वे हृदय में ले गई और फिर धीरे-धीरे श्वास मार्ग से होते हुए क्रमशः दोनों भौंहों के बीच में ले आई।

तात्पर्य : यौगिक क्रिया शरीर के भीतर षट्चक्रों में घूमती हुई वायु का निरोध है। वायु को उदर से नाभि, नाभि से हृदय, हृदय से कंठ, कंठ से दोनों भौंहों के बीच में और अन्त में भौंहों के मध्य से मस्तिष्क के शीर्ष भाग में ले जाया जाता है। योगाभ्यास की यही क्रिया है। वास्तविक योगपद्धति के अभ्यास के पूर्व मनुष्य को आसनों का अभ्यास करना होता है, क्योंकि इससे श्वास की क्रियाओं में सहायता मिलती है और ऊपर तथा नीचे की ओर जाने वाली वायु का संयमन हो सकता है। योग की सर्वोच्च सिद्धावस्था प्राप्त करने के लिए इस विशाल तकनीक का अभ्यास करना होता है, किन्तु यह अभ्यास इस युग के लिए नहीं है। इस युग में कोई भी योग में सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता। किन्तु कुछ लोग आसनों का अभ्यास करते हैं, जो एक तरह से व्यायाम ही है। ऐसे शारीरिक व्यायाम से रक्त संचार अच्छा हो सकता है और शरीर स्वस्थ रह सकता है, किन्तु यदि कोई इन्हीं व्यायामों तक अपने को सीमित रखता है, तो उसे उच्चतम सिद्धावस्था प्राप्त नहीं हो सकती। केशव-श्रुति में योगक्रिया का वर्णन मिलता है, जिसमें बताया गया है कि प्राणशक्ति को किस प्रकार इच्छानुसार नियंत्रित किया जा सकता है और एक शरीर से दूसरे में या एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, योगाभ्यास शरीर को स्वस्थ रखने के लिए नहीं होता। आध्यात्मिक अनुभूति की कोई भी दिव्य क्रिया स्वतः ही शरीर को ठीक रखती है, क्योंकि आत्मा से शरीर सदा स्वस्थ रहता है। ज्योंही आत्मा शरीर को त्याग देता है, शरीर सड़ने लगता है। कोई भी आध्यात्मिक क्रिया बाह्य प्रयास के बिना ही शरीर को स्वस्थ रखती है, किन्तु यदि कोई यह सोचता है कि योग की परिणति का अन्तिम लक्ष्य शरीर की रक्षा है, तो वह भूल करता है। योग की वास्तविक सिद्धि तो आत्मा को उच्च पद पर पहुँचाना है, अथवा आत्मा को भौतिक बन्धन से मुक्ति दिलाना है। कुछ योगी आत्मा को उच्चतर लोकों तक ऊपर उठाने का प्रयास करते हैं, जहाँ का जीवन-स्तर इस लोक से भिन्न है और भौतिक सुविधाएँ, जीवनकाल तथा आत्म-साक्षात्कार की अन्य सुविधाएँ अधिक हैं। कुछ योगी आत्मा को वैकुण्ठलोक तक ले जाने का प्रयास करते हैं। भक्तियोग से तो आत्मा सीधे वैकुण्ठलोक जाता है जहाँ जीवन आनन्द तथा ज्ञान से नित्य पूर्ण रहता है फलतः भक्तियोग को समस्त योग पद्धतियों में श्रेष्ठ समझा जाता है।

एवं स्वदेहं महतां महीयसा

मुहुः समारोपितमङ्गमादरात् ।

जिहासती दक्षरुषा मनस्विनी

दधार गात्रेष्वनिलाग्निधारणाम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; स्व-देहम्—अपना शरीर; महताम्—महान् सन्तों का; महीयसा—अत्यन्त पूज्य; मुहुः—पुनः पुनः;; समारोपितम्—आसीन; अङ्गम्—गोद में; आदरात्—आदरपूर्वक; जिहासती—त्यागने की इच्छा से पूर्ण; दक्ष-रुषा—दक्ष के प्रति रोष के कारण; मनस्विनी—स्वेच्छा से; दधार—स्थापित किया; गात्रेषु—शरीर के अंगों में; अनिल-अग्नि-धारणाम्—अग्नि तथा वायु का ध्यान।

इस प्रकार महर्षियों तथा सन्तों द्वारा आराध्य शिव की गोद में जिस शरीर को अत्यन्त आदर तथा प्रेम से बैठाया गया था, अपने पिता के प्रति रोष के कारण सती ने अपने उस शरीर का परित्याग करने के लिए अपने शरीर के भीतर अग्निमय वायु का ध्यान करना प्रारम्भ कर दिया।

तात्पर्य : शिवजी को यहाँ पर समस्त महात्माओं में श्रेष्ठ बताया गया है। यद्यपि दक्ष ने सती के शरीर को उत्पन्न किया था, किन्तु शिवजी सती को अपनी गोद में बैठा कर विभूषित किया करते थे। इसे आदर का बड़ा प्रतीक माना जाता है। इस प्रकार सती का शरीर सामान्य न था, तो भी सती ने उसका परित्याग करने का निश्चय किया, क्योंकि दक्ष से सम्बन्धित होने के कारण वह दुख का कारण बना हुआ था। सती द्वारा स्थापित इस गम्भीर उदाहरण का अनुकरण किया जाना चाहिए। मनुष्य को चाहिए कि ऐसे व्यक्तियों की संगति करते समय सावधान रहे, जो उच्च अधिकारियों के प्रति अवज्ञा करते हैं। अतः वैदिक साहित्य में शिक्षा दी गई है कि मनुष्य नास्तिकों तथा अभक्तों की संगति से दूर रहे और भक्तों की संगति करने का यत्न करे, क्योंकि भक्तों की संगति से वह आत्म-साक्षात्कार के पद तक उठ सकता है। श्रीमद्भागवत में कई स्थलों पर इस पर बल दिया गया है; यदि कोई सांसारिक बन्धनों से मुक्त होना चाहता है, तो उसे महात्माओं की संगति करनी चाहिए और यदि सांसारिकता को बनाये रखना है, तो संसारी पुरुषों की संगति करनी चाहिए। जीवन की भौतिकतावादी पद्धति विषयी जीवन पर आधारित है। इस प्रकार विषयी जीवन में लिप्त रहना और विषयी लोगों की संगति करना, इन दोनों की वैदिक साहित्य में भर्त्सना की गई है, क्योंकि ऐसी संगति से आध्यात्मिक उन्नति में अवरोध आएगा। किन्तु महापुरुषों तथा भक्तों की संगति करने से आध्यात्मिक स्तर उठता है। सती देवी ने अपना शरीर त्यागने का निश्चय किया, क्योंकि वह उन्हें दक्ष से प्राप्त हुआ था। वे अपने को दूसरे

शरीर में स्थानान्तरित करना चाह रही थीं जिससे वे भगवान् शिव की निष्कलुष संगति कर सकें। वस्तुतः यह स्पष्ट है कि अगले जीवन में वे हिमालय की कन्या पार्वती के रूप में जन्म लेंगी और तब वे फिर से शिव को पति रूप में स्वीकार करेंगी। सती तथा शिव का सम्बन्ध सनातन है, यहाँ तक कि शरीर बदलने पर भी उनका सम्बन्ध-विच्छेद नहीं होता।

ततः स्वभर्तुश्चरणाम्बुजासवं
जगद्गुरोश्चिन्तयती न चापरम् ।
ददर्श देहो हतकल्मषः सती
सद्यः प्रज्वाल समाधिजाग्निना ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

ततः—वहाँ; स्व-भर्तुः—अपने पति का; चरण-अम्बुज-आसवम्—चरणकमलों के अमृत पर; जगत्-गुरोः—ब्रह्माण्ड के गुरु का; चिन्तयती—चिन्तन करती हुई; न—नहीं; च—तथा; अपरम्—दूसरा (अपने पति के अतिरिक्त); ददर्श—देखा; देहः—शरीर; हत-कल्मषः—पाप का विनाश होकर; सती—सती; सद्यः—तुरन्त; प्रज्वाल—जल गई; समाधि-ज-अग्निना—ध्यान से उत्पन्न अग्नि द्वारा।

सती ने अपना सारा ध्यान अपने पति जगद्गुरु शिव के पवित्र चरणकमलों पर केन्द्रित कर दिया। इस प्रकार वे समस्त पापों से शुद्ध हो गईं। उन्होंने अग्निमय तत्त्वों के ध्यान द्वारा प्रज्वलित अग्नि में अपने शरीर का परित्याग कर दिया।

तात्पर्य : सती ने तत्क्षण अपने पति शिवजी के चरणकमलों का ध्यान किया, जो भौतिक जगत का संचालन करने वाले तीन देवताओं में से एक हैं। उन्हें चरणकमलों का ध्यान धरने से ही इतना आनन्द मिला कि वे अपने शरीर के सारे सम्बन्ध भूल गईं। यह आनन्द निश्चय ही भौतिक था, क्योंकि उन्होंने अपने शरीर को एक अन्य भौतिक शरीर प्राप्त करने के उद्देश्य से त्यागा था। किन्तु इस उदाहरण से हम भक्त के उस आनन्द का अनुमान लगा सकते हैं, जो वह अपने मन को भगवान् विष्णु या कृष्ण के चरणकमलों में ध्यान केन्द्रित करके प्राप्त करता है। भगवान् के चरणकमलों पर केवल ध्यान लगाने में ऐसा दिव्य आनन्द मिलता है कि मनुष्य ईश्वर के दिव्य रूप के अतिरिक्त सब कुछ भूल सकता है। यही योग-समाधि की सिद्धि है। इस श्लोक में बताया गया है कि ऐसे ध्यान से सती समस्त कल्मष से मुक्त हो गई। यह कल्मष क्या था? यह कल्मष दक्ष से प्राप्त देहात्म-बुद्धि के रूप में था, किन्तु समाधि में उन्हें यह सब भूल गया। तात्पर्य यह है कि जब मनुष्य इस भौतिक जगत में समस्त

शारीरिक सम्बन्धों से मुक्त हो जाता है और अपने को परमेश्वर का मात्र शाश्वत दास मान लेता है, तो यह समझना चाहिए कि समाधि की प्रज्वलित अग्नि से भौतिक आसक्ति के सारे कल्मष जल गये। यह प्रज्वलित अग्नि बाहर दिखे, यह आवश्यक नहीं है, क्योंकि यदि इसी जगत में रहते हुए कोई अपने सारे शारीरिक सम्बन्धों को भुला देता है और आत्मा में स्थित हो जाता है, तो यह कहा जाता है कि वह योगसमाधि की प्रज्वलित अग्नि द्वारा समस्त भौतिक कल्मषों से मुक्त हो गया है। योग की सर्वोच्च सिद्धि यही है। यदि वह इस जगत में अपने शारीरिक सम्बन्ध बनाये रखता है और अपने को महान् योगी बताता है, तो वह प्रामाणिक योगी नहीं है। *श्रीमद्भागवत* में (२.४.१५) कहा गया है *यत्कीर्तनं यत्स्मरणं*। केवल भगवान् के पवित्र नाम के कीर्तन, कृष्ण के चरणकमलों के स्मरण, भगवान् की स्तुति से ही मनुष्य समाधि की प्रज्वलित अग्नि द्वारा समस्त भौतिक कल्मष, देहात्मबुद्धि से तुरन्त मुक्त हो जाता है। यह प्रभाव बिना एक क्षण के विलम्ब से तत्क्षण घटित होता है।

श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार सती द्वारा शरीर-त्याग का अर्थ है कि सती ने दक्ष से अपने सम्बन्ध को हृदय के भीतर त्याग दिया। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने भी टीका की है कि सती बहिरंगा शक्ति की अधीक्षक विग्रह हैं, अतः जब उन्होंने अपना शरीर त्यागा तो उन्हें आध्यात्मिक देह नहीं प्राप्त हुई, वरन् दक्ष द्वारा प्राप्त शरीर से उन्होंने स्थानान्तरण कर लिया। अन्य टीकाकार भी कहते हैं कि उन्होंने तुरन्त अपने आपको मेनका के गर्भ में स्थापित कर लिया, जो उनकी भावी माता थीं। उन्होंने दक्ष से प्राप्त शरीर को त्याग दिया और वे तुरन्त ही एक श्रेष्ठतर शरीर में स्थानान्तरित हो गईं, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उन्हें आध्यात्मिक शरीर प्राप्त हुआ।

तत्पश्यतां खे भुवि चाद्भुतं महद्
 हा हेति वादः सुमहानजायत ।
 हन्त प्रिया दैवतमस्य देवी
 जहावसून्केन सती प्रकोपिता ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

तत्—उस; पश्यताम्—देखने वालों का; खे—आकाश में; भुवि—पृथ्वी पर; च—तथा; अद्भुतम्—अद्भुत; महत्—अत्यधिक; हा हा—हाहाकार; इति—इस प्रकार; वादः—गर्जन; सु-महान्—अत्यन्त शोर युक्त; अजायत—हुआ; हन्त—हाय; प्रिया—प्राणप्रिय; दैव-तमस्य—सर्वाधिक पूज्य देवता (शिव) की; देवी—सती ने; जहौ—त्याग दिया; असून्—अपना प्राण; केन—दक्ष द्वारा; सती—सती; प्रकोपिता—क्रुद्ध हुई।

जब सती ने कोपवश अपना शरीर भस्म कर दिया तो समूचे ब्रह्माण्ड में घोर कोलाहल मच गया कि सर्वाधिक पूज्य देवता शिव की पत्नी सती ने इस प्रकार अपना शरीर क्यों छोड़ा ?

तात्पर्य : ब्रह्माण्ड के विभिन्न लोकों के देवताओं में कोलाहल मच गया, क्योंकि सती राजाओं में श्रेष्ठ राजा दक्ष की कन्या और देवताओं में श्रेष्ठ शिवजी की पत्नी थीं। वे इतनी क्रुद्ध क्यों हुईं कि उन्होंने अपना शरीर छोड़ दिया ? चूँकि वे एक महापुरुष की पुत्री और महात्मा की पत्नी थीं, अतः उन्हें किसी प्रकार का अभाव न था, किन्तु तो भी उन्होंने असन्तुष्ट होकर शरीर छोड़ दिया। सचमुच यह आश्चर्यजनक था। भले ही कोई सर्वाधिक ऐश्वर्य को प्राप्त क्यों न हो, उसे पूर्ण सन्तोष प्राप्त नहीं हो सकता। ऐसी कोई भी वस्तु नहीं थी जिसे वे अपने पिता या पति से सम्बन्धित होने के कारण प्राप्त न कर सकती थीं, किन्तु तो भी किसी कारणवश वे असन्तुष्ट थीं। इसीलिए श्रीमद्भागवत में (१.२.६) बतलाया गया है कि मनुष्य को वास्तविक सन्तोष (ययात्मा सुप्रसीदति) प्राप्त करना चाहिए, किन्तु आत्मा—शरीर, मन तथा आत्मा—ये सभी तभी सन्तुष्ट होते हैं जब परम सत्य के प्रति भक्ति उत्पन्न होती है। स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे। अधोक्षज का अर्थ है परम सत्य। यदि कोई भगवान् के प्रति ऐसा अटूट प्रेम उत्पन्न कर ले तो उसे पूर्ण सन्तोष प्राप्त हो सकता है, अन्यथा इस जगत में या अन्यत्र सन्तोष की कोई सम्भावना नहीं है।

अहो अनात्म्यं महदस्य पश्यत

प्रजापतेर्यस्य चराचरं प्रजाः ।

जहावसून्यद्विमतात्मजा सती

मनस्विनी मानमभीक्षणमर्हति ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

अहो—ओह; अनात्म्यम्—उपेक्षा; महत्—भारी; अस्य—दक्ष की; पश्यत—जरा देखो तो; प्रजापतेः—प्रजापति; यस्य—जिसकी; चर-अचरम्—समस्त जीवात्माएँ; प्रजाः—सन्तान; जहौ—त्याग दिया; असून्—अपना शरीर; यत्—जिससे; विमता—अनादरित; आत्म-जा—अपनी पुत्री; सती—सती; मनस्विनी—स्वेच्छा से; मानम्—आदर, सम्मान; अभीक्षणम्—बारम्बार; अर्हति—योग्यता रखती थी।

यह आश्चर्यजनक बात है कि प्रजापति दक्ष, जो समस्त जीवात्माओं का पालनहार है, अपनी पुत्री सती के प्रति इतना निरादरपूर्ण था कि उस परम साध्वी एवं महान् आत्मा ने उसकी उपेक्षा के कारण अपना शरीर त्याग दिया।

तात्पर्य : यहाँ पर *अनात्म्य* शब्द महत्त्वपूर्ण है। *आत्म्य* का अर्थ है, “आत्मा का जीवन” अतः यह शब्द बताता है कि यद्यपि दक्ष जीवित प्रतीत होता था, किन्तु वास्तव में वह मृतक था, अन्यथा वह अपनी निजी पुत्री सती की उपेक्षा क्यों करता? दक्ष का परम कर्तव्य था कि वह समस्त जीवात्माओं के पालन एवं सुविधाओं का ध्यान रखता क्योंकि उसे प्रजापति का पद प्राप्त था। तो फिर उसने अपनी पुत्री की क्योंकर उपेक्षा की, जो इतनी साध्वी थी और अपने पिता से सभी प्रकार का आदर पाने की अधिकारिणी थी? अपने पिता दक्ष की उपेक्षा के कारण सती की मृत्यु ब्रह्माण्ड के सभी बड़े-बड़े देवताओं के लिए आश्चर्यजनक थी।

सोऽयं दुर्मर्षहृदयो ब्रह्मधुक्
लोकेऽपकीर्तिं महतीमवाप्स्यति ।
यदङ्गजां स्वां पुरुषद्विदुद्यतां
न प्रत्यषेधन्मृतयेऽपराधतः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

सः—वह; अयम्—यह; दुर्मर्ष-हृदयः—कठोर हृदय; ब्रह्म-धुक्—ब्राह्मण होने के अयोग्य; च—तथा; लोके—संसार में; अपकीर्तिम्—अपयश; महतीम्—अत्यधिक; अवाप्स्यति—प्राप्त करेगा; यत्-अङ्ग-जाम्—जिसकी पुत्री; स्वाम्—अपने; पुरुष-द्विद्—शिव का शत्रु; उद्यताम्—उद्यत, तैयार; न प्रत्यषेधत्—रोका नहीं; मृतये—मृत्यु से; अपराधतः—अपने अपराधों के कारण।

ऐसा दक्ष जो इतना कठोर-हृदय है कि ब्राह्मण होने के अयोग्य है, वह अपनी पुत्री के प्रति किये गये अपराधों के कारण अतीव अपयश को प्राप्त होगा, क्योंकि उसने अपनी पुत्री को मरने से नहीं रोका और वह भगवान् के प्रति अत्यन्त द्वेष रखता था।

तात्पर्य : दक्ष को यहाँ पर अत्यन्त कठोर-हृदय कहकर ब्राह्मण होने के अयोग्य बतलाया गया है। कोई-कोई टीकाकार *ब्रह्म-धुक्* का अर्थ ब्राह्मणों का मित्र लगाते हैं। जो व्यक्ति ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होकर ब्राह्मण के गुणों से रहित होता है, वह *ब्रह्म-बन्धु* कहा जाता है। ब्राह्मण लोग सामान्यतः अत्यन्त कोमल-हृदय और सहिष्णु होते हैं, क्योंकि वे मन तथा इन्द्रिय को वश में रखना जानते हैं। किन्तु दक्ष सहिष्णु न था। केवल इसलिए कि उसके जामाता शिव उसके सम्मान में खड़े नहीं हुए, वह क्रुद्ध हो गया। वह इतना कठोर-हृदय था कि उसने अपनी परम प्रिय पुत्री की मृत्यु भी सहन कर ली। दामाद तथा श्वसुर के बीच उत्पन्न भ्रान्ति को दूर करने के लिए बिना आमंत्रण के अपने पिता के घर जाना और

वहाँ पर दक्ष द्वारा उसका स्वयं का सत्कार न होना—इन सबको भुलाने का सती ने भरसक प्रयत्न किया। किन्तु दक्ष इतना कठोर-हृदय निकला कि वह आर्य या ब्राह्मण कहलाने के अयोग्य था। उसकी अपकीर्ति अभी तक चल रही है। दक्ष का अर्थ है 'पटु' और उसे यह नाम इसलिए प्राप्त था, क्योंकि उसने सैकड़ों-हजारों सन्तानें उत्पन्न की थीं। जो लोग अत्यन्त विषयी और भौतिकतावादी हैं, वे इतने कठोर-हृदय हो जाते हैं कि वे अपनी तनिक भी मान-हानि होने पर, अपनी सन्तान की मृत्यु को भी सहन कर सकते हैं।

वदत्येवं जने सत्या दृष्ट्वासुत्यागमद्भुतम् ।

दक्षं तत्पार्षदा हन्तुमुदतिष्ठन्नुदायुधाः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

वदति—बातें कर रहे थे; एवम्—इस प्रकार; जने—जबकि लोग; सत्याः—सती की; दृष्ट्वा—देखकर; असु-त्यागम्—मृत्यु, देह-त्याग; अद्भुतम्—आश्चर्यमय; दक्षम्—दक्ष; तत्-पार्षदाः—शिव के अनुचर; हन्तुम्—मारने के लिए; उदतिष्ठन्—उठकर खड़े हुए; उदायुधाः—अपने हथियार उठाये।

जिस समय सब लोग सती की आश्चर्यजनक स्वेच्छित मृत्यु के विषय में परस्पर बातें कर रहे थे, उसी समय शिव के पार्षद, जो सती के साथ आये थे, अपने-अपने हथियार लेकर दक्ष को मारने के लिए उद्यत हो गये।

तात्पर्य : सती के साथ जो पार्षद आये थे, वे विपत्तियों से उनकी रक्षा करने के लिए थे, किन्तु वे अपने स्वामी की पत्नी की रक्षा करने में असमर्थ सिद्ध हुए, इसलिए उनके लिए वे मरने का मन बना चुके थे और मरने के पूर्व वे दक्ष को मार डालना चाहते थे। अनुचरों का कर्तव्य है कि अपने स्वामी को सुरक्षा प्रदान करें, किन्तु यदि वे इसमें असफल रहें तो उन्हें मर जाना चाहिए।

तेषामापततां वेगं निशाम्य भगवान्भृगुः ।

यज्ञघ्नघ्नेन यजुषा दक्षिणाग्नौ जुहाव ह ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

तेषाम्—उनके; आपतताम्—निकट पहुँचे; वेगम्—वेग; निशाम्य—देखकर; भगवान्—समस्त ऐश्वर्यों के स्वामी; भृगुः—भृगुमुनि; यज्ञ-घ्न-घ्नेन—यज्ञ को विध्वंस करने वालों को मारने के लिए; यजुषा—यजुर्वेद के मंत्रों से; दक्षिण-अग्नौ—यज्ञ की अग्नि की दक्षिण दिशा में; जुहाव—आहुति दी; ह—निश्चय ही।

वे बलपूर्वक आगे बढ़े, किन्तु भृगु मुनि ने संकट को ताड़ लिया और याज्ञिक अग्नि की

दक्षिण दिशा में आहुति डालते हुए उन्होंने तुरन्त यजुर्वेद से मंत्र पढ़े जिससे यज्ञ को विध्वंस करने वाले तुरन्त मर जाएँ।

तात्पर्य : यहाँ पर वेदों के शक्तिवाली मंत्रों का एक उदाहरण है जिनके उच्चारण से अद्भुत कार्य हो सकते हैं। इस कलियुग में कुशल मंत्र उच्चारण करने वालों को ढूँढ पाना कठिन है, अतः इस युग में वेदों में संस्तुत समस्त यज्ञ वर्जित हैं। इस युग में केवल एक यज्ञ की संस्तुति की गई है और वह है हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन, क्योंकि इस युग में यज्ञ सम्पन्न करने के लिए आवश्यक धन को एकत्र कर पाना सम्भव नहीं है, ठीक से मंत्रों का उच्चारण करने वाले ब्राह्मणों की खोज कर पाना तो और भी कठिन है।

अध्वर्युणा हूयमाने देवा उत्पेतुरोजसा ।

ऋभवो नाम तपसा सोमं प्राप्ताः सहस्रशः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

अध्वर्युणा—पुरोहित, भृगु द्वारा; हूयमाने—आहुति डाले जाने पर; देवाः—देवता; उत्पेतुः—प्रकट हुए; ओजसा—परम शक्तिपूर्वक; ऋभवः—ऋभुगण; नाम—नामक; तपसा—तपस्या द्वारा; सोमम्—सोम; प्राप्ताः—प्राप्त हुए; सहस्रशः—हजारों।

जब भृगु मुनि ने अग्नि में आहुति डाली तो तत्क्षण ऋभु नामक हजारों देवता प्रकट हो गये।

वे सभी शक्तिशाली थे और उन्होंने सोम अर्थात् चन्द्र से शक्ति प्राप्त की थी।

तात्पर्य : यहाँ कहा गया है कि अग्नि में आहुति डालने तथा यजुर्वेद से मंत्रों के उच्चारण से ऋभु नामक हजारों देवता उत्पन्न हो गये। भृगुमुनि जैसे ब्राह्मण इतने शक्तिशाली हुआ करते थे कि वे वैदिक मंत्रों का उच्चारण करके ऐसे शक्तिमान देवताओं को उत्पन्न कर सकते थे। आज भी वैदिक मंत्र उपलब्ध हैं, किन्तु उच्चारण करने वाले नहीं हैं। वैदिक मंत्रों के उच्चारण से, अथवा गायत्री या ऋक्-मंत्र के उच्चारण से मन-वांछित फल प्राप्त हो सकता है। इस कलियुग में भगवान् चैतन्य ने केवल हरे कृष्ण के कीर्तन द्वारा सभी सिद्धियों की प्राप्ति सम्भव बतलाई है।

तैरलातायुधैः सर्वे प्रमथाः सहगुह्यकाः ।

हन्यमाना दिशो भेजुरुशद्भिर्ब्रह्मतेजसा ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

तैः—उनके द्वारा; अलात-आयुधैः—अग्नि के हथियारों से; सर्वे—सभी; प्रमथाः—भूतगण; सह-गुह्यकाः—गुह्यकों सहित; हन्यमानाः—आक्रमण किये गये; दिशः—विभिन्न दिशाओं में; भेजुः—भग गये; उशद्भिः—जलते हुए; ब्रह्म-तेजसा—ब्रह्म शक्ति से।

जब ऋभु देवताओं ने भूतों तथा गुह्यकों पर यज्ञ की अधजली समिधाओं से आक्रमण कर दिया तो सती के सारे अनुचर विभिन्न दिशाओं में भागकर अदृश्य हो गये। यह ब्रह्मतेज अर्थात् ब्राह्मणशक्ति के कारण ही सम्भव हो सका।

तात्पर्य : इस श्लोक में आया हुआ *ब्रह्मतेजसा* शब्द सार्थक है। उन दिनों ब्राह्मण इतने शक्तिशाली हुआ करते थे कि वे इच्छाशक्ति से तथा वैदिक मंत्रों के उच्चारण से ही आश्चर्यजनक कार्य सम्पन्न कर लेते थे। किन्तु अवनति के इस आधुनिक युग में ऐसे ब्राह्मण मिलते ही नहीं हैं। *पांचरात्रिक* पद्धति के अनुसार इस युग में सारी आबादी शूद्रों की मानी गई है, क्योंकि ब्राह्मण-संस्कृति विनष्ट हो चुकी है। किन्तु यदि किसी में कृष्णभावनामृत को समझने के लक्षण दृष्टिगोचर हों तो उसे वैष्णव स्मृति विधान के अनुसार भावी ब्राह्मण स्वीकृत करके उच्चतम सिद्धि प्राप्त करने के लिए समस्त सुविधाएँ प्रदान की जानी चाहिए। इस पतित युग में जीवन की परम सिद्धि प्राप्त करने का यदि कोई साधन है, तो भगवान् चैतन्य वह अमूल्य की देन है, जिसमें हरे कृष्ण कीर्तन की प्रक्रिया को ग्रहण करके आत्म-साक्षात्कार के समस्त कार्यों की पूर्ति हो जाती है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के चतुर्थ स्कन्ध के अन्तर्गत, “सती द्वारा शरीर त्याग” नामक चौथे अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।